ॐ

हिन्दू धर्म
मानव धर्म

गो. कृ. मुस्कुटे

प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६
प्रथम संस्करण : १९८२
मूल्य : बीस रुपये (लोकप्रिय संस्करण)
मुद्रक : रूपाभ प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-३२

HINDU DHARMA : MANAV DHARMA *by* Govind Krishna Bhuskutey
Popular edition Rs. 20.00

हिंदू धर्म : मानव धर्म

(व्यक्ति—परिवार—राष्ट्र—मानवताधारक)

श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तं कालेन विस्मृतिं गतम् ।
अद्यतनैरथाचार्यैः स्मारितं विशदीकृतम् ।।

आत्मिकोन्नतिसंगामि साधनमर्थकामयोः ।
यथार्हतां च सर्वेषां मोक्षमार्गप्रदर्शकम् ।।

व्यष्टेः कुलस्य राष्ट्रस्य मानवत्वस्य धारकम् ।
धर्मं सूक्ष्मगतिं यस्मात् ज्ञातुं प्रयतितं मया ।।

तस्मै परमपूज्याय गोल्वल्करकुटुंबिने ।
सदाशिवस्य पुत्राय माधवायेदमर्पितम् ।।

—गो० कृ० भुस्कुटे
टिमरनी (म० प्र०)

अनुक्रम

निवेदन

अपने सूक्ष्मगति धर्म की जिज्ञासा से मैंने अपने प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रंथों का अध्ययन किया। प० पू० श्री गुरुजी ने १९७० में रायपुर में हुए संघ शिक्षा वर्ग के भाषण में धर्म की व्याख्या की थी।* प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों में व्यक्त

* " 'धर्म' शब्द की अपने यहां अनेक व्याख्याएं की गयी हैं। उसमें यह भी एक महत्वपूर्ण व्याख्या है कि "धारणाद् धर्ममित्याहुः" जिसके कारण समाज की धारणा होती है वह है धर्म। धर्म के इस अर्थ का विचार किया गया तो यह समझ में आ सकेगा कि अंग्रेजी में (Religion)यह जो उसका अनुवाद किया जाता है वह सदोष है। Religion माने केवल एक प्रकार का विश्वास और उपासना पद्धति। उपासना पद्धति यह श्रद्धा का विषय होगा जिसमें विचार नहीं, तत्त्वज्ञान नहीं। केवल एक विश्वास कि अमुक एक व्यक्ति ने कहा कि "ऐसी उपासना करो या मानो" इतना संकुचित Religion शब्द का अर्थ है। अंग्रेजों के चश्मे से अपने जीवन के आदर्शों की ओर देखने वाले अपने लोगों ने भी धर्म को Religion शब्द का समानार्थी बनाकर अपने धर्म को भी संकुचित बना दिया। फिर आज के युग में प्रगतिशील, विज्ञान से विभूषित लोग सोचते हैं कि ऐसा आंखें मूंद कर किसी पर विश्वास करना योग्य नहीं, सिद्ध करना चाहिए। और सिद्ध करना इसमें सम्भव नहीं। केवल ईसामसीह कहते हैं, या कोई पैगम्बर कहते हैं अथवा कोई साधु-महात्मा कहते हैं कि "अमुक एक बात करो तो करना यह बुद्धिजीवी दम्भ भरनेवाला मनुष्य आज करने को तैयार नहीं। फिर उनके धर्मानुयायी अंध-श्रद्ध अतः हमारे भी धर्म के अनुयायी अंधश्रद्ध, यह दुष्ट अनुमान किया गया। बस; यह सारा Religion को धर्म का समानार्थी बनाने का परिणाम है। धर्म का अर्थ अपने यहां बहुत व्यापक है। व्यक्ति के जीवन के प्रारम्भ से लेकर उसके अन्त तक उसको सुयोग्य रीति से मार्गदर्शन करने वाला, उसके अन्दर सद्‌गुणों का संस्कार करके विधिनिषेध के द्वारा भिन्न-भिन्न आचरण की व्यवस्था देने वाला, सब व्यक्तियों की सुव्यवस्थित रचना कर, समाज को

विचारों का एवं गत ३३ वर्ष की लम्बी अवधि में यदा-कदा प्राप्त प० पू० श्री गुरुजी के सहवास में, बैठकों में, भाषणों में अथवा लेखों में व्यक्त किए गए विचारों का इस व्याख्या की पृष्ठभूमि में मैंने चिन्तन किया और जो मेरे विचार बने उन्हें १९७३ के संघ शिक्षा वर्ग में मैंने प्रस्तुत किया। बाद में उन्हें लेखबद्ध किया। लेखबद्ध करते समय जिन विचारों का मैंने संघ की प्रार्थना की व्याख्या करते समय विस्तृत रूप से विवेचन किया था। उन्हें इस लेख में संक्षेप में लिखा ताकि पुनरुक्ति का दोष न हो। यह लेख संघ के स्वयंसेवकों को संबोधित करने की दृष्टि से मैंने लिखा था। इस लेख को और अधिक व्यापक और विस्तृत रूप से लिखने की मेरी इच्छा थी। परन्तु समय के अभाव के कारण लिखने में असमर्थ रहा।

१९७५ की २५ जून को व्यर्थ लादे गए आपातकाल में बंदी बनाए जाने से मैं २१ मार्च १९७७ तक कारागार में रहा। कारागार में जाते समय अपना 'हिंदू धर्म' संबंधी लेख, प्रार्थना की मेरे द्वारा की गयी व्याख्या एवं अन्य धार्मिक ग्रंथ भी मैं अपने साथ कारागार में ले गया।

कारागार में होशंगाबाद के वकील मित्रवर श्री रमेश चन्द्र वरगले भी वन्दी थे। मानों मेरा स्वागत करने के लिए मेरे से पहले ही वहां पहुंचे हों। कुछ दिनों पश्चात् ये दोनों लेख उन्हें पढ़ने के लिए मैंने दिए और उनका मत जानना चाहा। उन्हें ये लेख जंचे। 'हिंदू धर्म' लेख के संबंध में उन्होंने मुझे तीन सुझाव दिए। पहला यह कि इस लेख को विस्तृत रूप से लिखने के पूर्व पौरस्त्य एवं पाश्चात्य समाजशास्त्रविदों के ग्रंथ मैं पढ़ूं। दूसरा यह कि संघ के स्वयंसेवकों का संबोधन करने की अपेक्षा मैं समाज को संबोधन करूं ताकि सारे समाज को इसे पढ़ने की इच्छा हो और तीसरा यह कि प्रार्थना की व्याख्या में जिन विषयों का विस्तृत रूप से विवेचन किया है उन्हें इसमें समाविष्ट करूं। चूंकि अब संबोधन समाज को किया जा रहा है, अतः पुनरुक्ति की आपत्ति नहीं आती। मुझे ये तीनों बातें जंचीं।

अतः मैंने होशंगाबाद महाविद्यालय के समाजशास्त्र के प्राध्यापक से पौरस्त्य एवं पाश्चात्य समाजशास्त्र संबंधी दो ग्रंथ मंगवाए। उन्होंने जो दो ग्रंथ भेजे उनके

परस्परानुकूल, स्पर्धारहित बनाने वाला, और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को अपनी-अपनी रुचि के, पात्रता के अनुसार उपासना कर वे भगवान् की प्राप्ति कर सकें ऐसी व्यवस्था देने वाला, और ऐसी सब उपासना पद्धतियों में सामंजस्य निर्माण कर एक ही तत्त्वज्ञान के आधार पर सबके एकत्व को प्रकट करने वाला अपना धर्म है। याने जीवनव्यापी, सर्वव्यापी, सर्वसंग्राहक है। और इसलिए उससे समाज की धारणा होती है। अतः धर्म को अपने यहां व्याख्या की गयी 'धारणाद् धर्ममित्याहुः'।"

—प० पू० श्री गुरुजी

नाम हैं : (१) पंढरीनाथ ह० प्रभु द्वारा लिखित 'Hindu Social Organisations' और (२) R. M. Maciver एवं Charles H. Page द्वारा लिखित 'Society'। दोनों ग्रंथ मेरे लिए बहुत बोधप्रद रहे। मैं उन लेखकों का कृतज्ञ हूं।

यह पुस्तक लिखते समय यत्र-तत्र श्री रमेश बरगले ने जो शंकाएं प्रस्तुत कीं उनका स्पष्टीकरण करने से प्रतिपादन अधिक अच्छी प्रकार से हो सका है।

दूसरे प्रकरण में भेद में अभेद है—अर्थात् सब चराचर ईश्वर की अभिव्यक्ति है यह विवेचन करते समय इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान में अणु का विभाग, ऊर्जा एवं उसके दो अंग जड़ तथा चैतन्य, और बारहवें प्रकरण में विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय जैव गठन की प्रक्रिया भी क्रांतिमूलक नहीं अपितु विकासमूलक है, इस अद्यतन वैज्ञानिक अन्वेषण की जानकारी मैंने मित्रवर प्राध्यापक श्री सुरेश्वर शर्मा से कारागार से मुक्त होने के पश्चात् प्राप्त की है और इसलिए बाद में लिखी है।

कारागार से मुक्त होने के पश्चात् मैंने यह लेखन श्री रमेशचंद्र काशीव, व्याख्याता, राधास्वामी विद्यालय टिमरनी, को पढ़ने के लिए दिया और उनके सुझाव जानने चाहे। हिंदी व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध रचना उन्होंने सुधारी और अपने धर्म की पृष्ठभूमि में विद्यमान छात्र समस्या सुलझाने की दृष्टि से भी मैं इस लेखन में विचार व्यक्त करूं यह इच्छा उन्होंने व्यक्त की। अतः वह एक भाग बाद में ब्रह्मचर्याश्रम प्रकरण में जोड़ा गया है। उनके सुझाव के लिए मैं कृतज्ञ हूं।

मित्रवर श्री सुदर्शनजी ने, जो संघ के अखिल भारतीय बौद्धिक प्रमुख हैं, यह प्रबंध पढ़ा और मुझे सुझाया कि अपने धर्म के आदर्शों के अनुसार संघ क्या कर रहा है, यह वर्णन भी करूं। अतः एक चौदहवां प्रकरण भी बाद में लिखा है।

संघ के सर कार्यवाह श्री राजेन्द्रसिंहजी ने मुझे सुझाया कि संघ के उद्देश्य एवं कार्य-प्रणाली के बारे में वर्णन करना तो आवश्यक ही है परन्तु साथ ही अर्वाचीन काल में इस दृष्टि से जिन महापुरुषों ने समाज को चैतन्ययुक्त कर राष्ट्रोत्थान का प्रयास किया, उनके भी कार्य का उल्लेख करना समीचीन होगा। अतः इसी प्रकरण के प्रारंभ में कुछ छेदक और जोड़ दिए हैं।

प्रायः सभी आत्मीयों ने, जिन्होंने यह प्रबन्ध पढ़ा, यह मत व्यक्त किया कि संस्कृत के बहुत श्लोक उद्धृत किए गए हैं। उनके कारण विचार में बाधा पड़ती है। मैं समझता हूं कि एक बात स्मरण में रखना नितान्त आवश्यक है कि यह प्रबंध लिखते समय मेरा उद्देश्य यह कभी नहीं रहा कि मैं कोई नया स्वतंत्र तर्क प्रतिपादन करूं। अपने धर्म के स्वरूप के बारे में धर्म के प्रति सश्रद्ध एवं अश्रद्ध—दोनों प्रकार के लोगों में जो विकृत कल्पनाएं हैं, भ्रम हैं, उन्हें दूर कर शाश्वत सत्य के सिद्धांत जिन पर अपना आधारित धर्म है, भिन्न रुचि के, भिन्न अधिकार

के एवं भिन्न प्रकृति के व्यक्तियों का यथाक्रम विकास करते हुए उन्हें एक सूत्र में गूंथने के लिए लचीली अतएव सर्वसंग्राहक जो व्यवस्था है और परिवर्तनशील समय के साथ आवश्यकतानुसार शाश्वत सिद्धांतों को न त्यागते हुए उस व्यवस्था में संशोधन करने की भी धर्म ने जो व्यवस्था दी है, उन तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए, अपने प्रतिपादन की पुष्टि के लिए एवं उन भ्रांतचित्त लोगों की तुष्टि के लिए आचार्यों के विचार उद्‌धृत करना मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ, ताकि उनके पूर्वग्रहदूषित मन में यह विपरीत धारणा उत्पन्न न हो कि धर्म का मनगढ़ंत एवं विकृत स्वरूप मैं प्रस्तुत कर रहा हूं। अतएव अनेक उद्धरण प्रस्तुत करने की अपरिहार्यता। जो संस्कृत भाषा नहीं जानते उनके लिए मेरा निवेदन है कि संस्कृत श्लोक न पढ़ते हुए वे केवल अनुवाद पढ़कर आगे बढ़ें ताकि उनके विचार सूत्र में खंड नहीं पड़े।

विषय का प्रतिपादन करते समय अनेक विषयों का ऊहापोह किया गया है, परन्तु मैं समझता हूं कि व्यक्ति, परिवार, राष्ट्र एवं मानवता के स्वस्थ धारण के लिए अर्थात् धर्म के सर्व-जीवन-व्यापी एवं सर्व-संग्राहक स्वरूप को विशद करने के लिए वह ऊहापोह करना आवश्यक है।

विश्व हिंदू परिषद के महामंत्री मित्रवर श्री मा० पां० उपाख्य राजाभाऊ डेग्वेकर जैसे अधिकारी व्यक्ति ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर प्रस्तावना लिखी है, यह मैं अपना अहोभाग्य समझता हूं।

श्री राजेन्द्र सिंहजी, राजाभाऊ डेग्वेकर, सुदर्शनजी, श्री रमेश बरगले एवं सुरेश्वर शर्मा के और अपने संबंधों का विचार करूं तो कृतज्ञता व्यक्त करना परायापन जताना होगा तथा औपचारिकता निभाना होगा।

मेरे द्वारा यहां व्यक्त विचारों पर प० पू० श्री गुरुजी से चर्चा करने का और उनका मत जानने का अवसर यदि प्राप्त हो पाता तो मुझे कितना आनन्द होता, यह व्यक्त करना असंभव है। योग नहीं था। जिस समय मैंने ये विचार व्यक्त किए, उसी समय वे अत्यधिक अस्वस्थ थे और बाद में उनका देहावसान भी हुआ।

मेरे द्वारा यहां प्रतिपादित विचारों में अथवा तर्कों में यदि कोई दोष हों तो वे मेरे ही हैं।

पाठकों को ये लेख पढ़ने के लिए प्रस्तुत करते समय एक निवेदन है कि इस लेखन में प्रतिपादित विचारों में अथवा तर्कों में जो दोष हों, वे मुझे बतावें। इससे मुझे और विचार करने में सहायता मिलेगी।

टिमरनी म० प्र०
कार्तिक शुद्ध १ सं० २०३७
तदनुसार ८ नवंबर १९८०

गोविन्द कृष्ण भुस्कुटे

प्रस्तावना

आज केवल भारत के उज्ज्वल भविष्य के लिए ही नहीं अपितु संसार के कल्याण के लिए भी धर्म की अत्यन्त आवश्यकता है। यहां धर्म का अर्थ है भारतीय धर्म या हिन्दू धर्म। यह बात स्पष्ट करना आवश्यक है क्योंकि धर्म की संकल्पना केवल भारत में ही और हिन्दुओं ने ही की है। सर्व सामान्य रूप से धर्म याने अंग्रेजी भाषा का रिलिजन नहीं। यह भ्रान्त धारणा है, यह सर्व विदित है। रिलिजन का संस्कृत समानार्थी सम्प्रदाय हो सकता है जिसमें एक विशिष्ट उपासना पद्धति, उस पद्धति का एक प्रवर्तक, उसका एक आधारभूत ग्रन्थ और कुछ कर्मकाण्ड, यह अभिप्रेत रहता है।

धर्म वह तत्व है जो समाज की धारणा करता है। "धारणा धर्म इत्याहुः-धर्मा धारयते प्रजाः" यह वचन सुप्रसिद्ध है। हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों ने समस्त मानव जाति के कल्याण के लिए इस तत्त्व का आविष्कार किया। सर्वऽपि सुखिनः सन्तु" यह उनकी प्रतिज्ञा थी। अपि का अर्थ है कि जो युवक या हृष्ट-पुष्ट या, बुद्धिमान् या धनवान् या गुणसंपन्न व्यक्ति है वह तो अपनी शक्ति के बल पर सुख का अर्जन करता ही है। परन्तु जो बाल, वृद्ध रुग्ण, अशक्त, गुणहीन, दरिद्री आदि लोग हैं वे भी समाज के अंग हैं। उनके भी सुख की व्यवस्था करनी चाहिए। इसी के लिए धर्म को सृष्टि की गई।

प्राणिमात्र सुख की कामना करता है और दुःख का परिहार चाहता है। अपनी अन्यान्य वासनाएं तृप्त करके वह सुख प्राप्ति का प्रयास करता है और तदर्थ धनधान्य आदि सामग्री जुटाता है। मनुष्य मात्र को सुखी करना यही हमारे ऋषि मुनियों का उद्देश्य होने के कारण ऊपर वर्णित दो प्रवृत्तियां काम और अर्थ के रूप में उन्होंने स्वीकार की है। इतना ही नहीं काम को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ माना गया है। उसकी पूर्ति में त्याज्य, हेय कुछ भी नहीं है, यह उनकी मान्यता है। उसकी प्राप्ति करते समय केवल स्वयं का विचार पर्याप्त नहीं है। दूसरों को भी सुख प्राप्ति का उतना ही अधिकार है। अतः कुछ संयम, कुछ नियम-पालन की आवश्यकता रहेगी। वे ही नियम धर्म में निहित हैं। इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा है—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'

उदाहरणार्थ वासना तृप्ति कोई पाप नहीं इसलिए किसी की सुन्दर स्त्री को देखकर कोई उसकी अभिलाषा करेगा तो धर्म यह कहकर कि "मातृवत् परदारेषु" उसका नियमन करेगा। केवल अपने ही सुख का विचार करना पशुवृत्ति है। कहा है "वही पशुप्रवृत्ति है जो आप आप ही चरें।" जंगल का कानून से (Survival of the fittest), पशुत्व से ऊपर उठाकर सभी को सुखी करने की व्यवस्था का नाम है धर्म। इसीलिए कहा है, "धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।"

अब धर्म का निश्चित स्वरूप क्या है, यह समझ लेना आवश्यक है। इस तत्त्व के स्वाभाविक रूप के अनेक पहलू हैं और उन सबका विवेचन करते हुए धर्म की अनेक व्याख्याएं की गई हैं। अंधे और हाथी के किस्से में जिस प्रकार सभी की धारणाएं मिलाकर ही हाथी का सत्य स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है, उसी प्रकार धर्म के सभी लक्षणों का समग्र रूप से विचार करने से ही धर्म का सही स्वरूप समझ में आ सकता है।

सम्पूर्ण समाज के सुख का विचार करते समय हमारे ऋषि मुनियों ने यह देखा कि व्यक्ति-व्यक्ति मिलकर समाज बनता है। अतः व्यक्ति की अपनी स्वयं की उन्नति के साथ-साथ उनका आपस का व्यवहार परस्पर सहयोग और परस्परानुकूलता के आधार पर होगा तो सभी सुखी हो सकते हैं। अतः प्रथम व्यक्ति की उन्नति को ध्यान में रखकर उन्होंने चार आश्रमों की व्यवस्था की और समाज की आवश्यकताएं और मनुष्य की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों और क्षमताओं का विचार करते हुए चार वर्णों की व्यवस्था की। और चारों आश्रमों एवं चारों वर्णों के कर्तव्य—जैसे गृहस्थ धर्म, क्षत्रिय धर्म इस प्रकार धर्म के रूप में निश्चित किये।

समाज की धारणा करना धर्म का उद्देश्य होने के कारण स्थान, समय और परिस्थिति के अनुसार धर्म के नियमों में परिवर्तन भी स्वाभाविक ही है। सर्दी में गरम कपड़े सुख देते हैं, परन्तु गर्मी में वे दुख देंगे। कहा है—

पात्रकर्म विशेषेण देशकालौ ह्यवेक्ष्यच।
स एव धर्मः सोऽधर्मः धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः ।।

परन्तु कुछ नियम ऐसे होते हैं जो शाश्वत हैं, अपरिवर्तनीय हैं—सब वर्णों एवं सब आश्रमों के लिए समान रूप से लागू होते हैं। वे जितने प्राचीन समय में ठीक और आवश्यक थे, उतने आज भी हैं और आगे भी रहेंगे। उन्हें सामान्य धर्म कहा है, जैसे—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः
धीर्विधा सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।

कुछ व्याख्याएं धर्म का उद्गमस्थान निर्दिष्ट करती हैं जैसे "वेदोऽखिलोधर्ममूलम्" या चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः आदि। हिन्दुओं के लिए स्वाभाविक रूप से वेद ही

सर्वोपरि प्रमाण हैं। परन्तु साथ ही बाद में समय-समय पर ऋषिमुनियों ने आवश्यकतानुसार स्मृतियों की रचना की या वेदज्ञ ऋषियों ने भिन्न-भिन्न समय पर जो व्यवहार किया वे स्मृतियां और वह व्यवहार भी प्रमाण माना गया। इतना ही नहीं तो किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में यदि कोई भी वचन या—व्यवहार मार्गदर्शक नहीं हो रहा है, तो अपनी अन्तःप्रेरणा को भी प्रमाण मान सकते हैं, ऐसा कहा है—

'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्यच प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।।'

कुछ व्याख्याएं धर्माचरण का फल निर्दिष्ट करती हैं। जैसे 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।' जिसके पालन से समष्टि याने समाज का उत्कर्ष होता है और व्यक्ति को भी चरमोत्कर्ष याने मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह धर्म।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न सभी व्याख्याओं की संगति आसानी से बैठाई जा सकती है, यह स्पष्ट है।

अब प्रश्न यह उठता है कि आज कि परिस्थिति में आधुनिक विज्ञान और यंत्र युग के संदर्भ में धर्म की उपयोगिता क्या है। हम देखते हैं गत दो शताब्दियों से भौतिकवाद का बोलबाला है। पूंजीवाद हो या समाजवाद हो, दोनों भौतिकवाद पर ही आधारित हैं। भौतिकवाद ने संसार को आश्वासन दिया कि हम मानव को सुख-शांति-समृद्धि देंगे। और सुख वस्तुनिष्ठ है, ऐसी भौतिकवाद की मान्यता होने के कारण उसने विज्ञान की सहायता से नानाविध सुख के साधन जुटाये। परन्तु हम देखते हैं इस समृद्धि के बीच में मानव अशांत है। नींद की गोली सेवन किए वगैर उसे नींद नहीं आती। आत्महत्या और पागलपन का प्रभाव बढ़ रहा है, क्योंकि सब पाने के बाद भी "ततः किम्" का उत्तर नहीं मिल रहा है। साथ ही भोग्य पदार्थ तो निर्माण किए, परन्तु उपभोक्ता का विचार नहीं किया। उसमें जो स्वाभाविक रूप से काम-क्रोधादि षड्रिपु हैं, उनसे मुक्ति दिलाने का विचार नहीं किया। फलतः उन दोषों के वशीभूत होकर मानव ने उसी विज्ञान के सहारे महाभयानक अस्त्र-शस्त्र निर्माण किये और आज संसार तृतीय महायुद्ध के कगार पर खड़ा होकर संभाव्य विनाश की कल्पना से थर-थर कांप रहा है।

यह परिणाम है अर्थकाम इन दोनों तत्त्वों को अप्रतिहत रूप से अनिर्बाध संचार करने की खुली छूट देने का। आज इन दोनों पर अंकुश रखने की, नियंत्रण रखने की आवश्यकता है। वह नियंत्रण धर्म तत्त्व ही रख सकता है। भौतिकता पर आध्यात्मिकता का अंकुश आवश्यक है। धर्म और आध्यात्मिकता हिन्दू परम्परा की देन हैं। अतः इन तत्त्वों को सक्रिय करने का दायित्व हिन्दू समाज का है। यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि वह हमारा ईश्वर प्रदत्त जीवन कार्य

है। यह कल्पना एक कवि ने अत्यन्त सुन्दर शब्दों में वर्णित की है—

'विश्वमखिल मुद्धर्तुममी निर्मिता वयम्।
मानवं समुद्धर्तुममी निर्मिता वयम्।
इरिणा प्रेषिता वयम्।'

वह आगे चलकर उसका कारण देता है—

'जानते भरत भुवि लोकाः।
आत्म तत्वमिह गत शोकाः।
इत्यवेत्य जगदुद्धरणे योजिता वयम्॥'

इस धर्म का और आध्यात्मिकता का विस्तृत विवेचन करना, उसके सब पहलुओं पर प्रकाश डालना अत्यंत आवश्यक हो गया है। आज अपनी यह हिन्दू जाति कुंभकर्ण की नींद सो रही है। उसे आत्मविस्मृति हो गई है। जैसे समुद्रोड्डानके पूर्व हनुमानजी को उनकी शक्ति का स्मरण दिलाना आवश्यक हो गया था, इसी प्रकार आज हिन्दू समाज को अपनी परंपरा का ज्ञान देकर उसे अपने महान् उत्तरदायित्व का बोध कराना आवश्यक हो गया है।

इस महत्कार्य को सम्मुख रखकर हिन्दू जागरण की दिशा में मेरे परममित्र श्री गोविन्द कृष्ण भुसकुटे ने जो प्रयास किया है, वह प्रस्तुत ग्रन्थ के रूप में सामने उपस्थित है। केवल चारदीवारी के भीतर आसनस्थ होकर किये गये तत्त्वचिंतन का फल नहीं हैं यह ग्रन्थ। यह गृहस्थ होकर भी संन्यस्त वृत्ति से काम करने वाले संन्यस्त वृत्ति होते हुए भी गीता प्रतिपादित केवल फलाकांक्षा के विषय में उदासीन परंतु प्रत्यक्ष कार्य क्षेत्र में अहर्निश कार्यरत रहने वाले, हुतात्मा की दिव्य दाहकता अन्तर में समाकर तिल-तिल होम करने की वृत्ति से जूझने वाले, सामान्य दिखने वाले परंतु असामान्य जीवन जीने वाले व्यक्ति के अन्तःकरण में कार्य करते-करते जो विचार उत्स्फूर्त हुए, उनका प्रकटीकरण हमें यहां दिखाई देगा। संभवतः इसमें प्रतिभासंपन्न कलाकार की चमक-दमक दिखाई नहीं देगी, परंतु हृदय की विशुद्ध भावनाओं के प्रशान्त प्रवाह का दर्शन यहां अवश्य होगा। मेरे सरीखे सामान्य कार्यकर्त्ता को प्रस्तावना लिखने का जो अनुरोध उन्होंने किया, वह उनका मेरे ऊपर जो अगाध स्नेह है उसका द्योतक है। तदर्थ अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए मैं विराम लेता हूं।

इति शुभम्

नई दिल्ली
कार्तिक शु० १ सवत् २०३७

मा० पां० डेगवेकर
महामंत्री, विश्वहिंदू परिषद्

: १ :

उपक्रम

हमारे राष्ट्र की विशेषता

प्रत्येक मनुष्य का अपना एक व्यक्तित्व होता है जिसके कारण उसकी अन्य मनुष्यों से भिन्नता प्रकट होती है। वह व्यक्तित्व केवल उसके शरीर के आकार से प्रकट नहीं होता, अपितु उसका व्यवहार एवं उस व्यवहार के आधारभूत उसके विचारों से प्रकट होता है। उसके व्यक्तित्व को समझ लेने के लिए मोटे तौर पर यद्यपि कुछ लक्षण बताये जा सकते हैं तथापि उसके सब लक्षण बताना बहुत कठिन होता है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उसका व्यक्तित्व उसके जैसा ही है और वह अन्य मनुष्यों के व्यक्तित्व से भिन्नता रखता है। अतः वह भिन्नता ही उसके व्यक्तित्व का प्रमुख लक्षण है। उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र की अपनी कोई विशेषता होती है जिसके कारण अन्य राष्ट्रों से उसकी भिन्नता प्रकट होती है। वह उसकी अस्मिता का ही प्रमुख लक्षण होता है। अपने राष्ट्र को इस दृष्टि से परखा जाय तो समझ में आयेगा कि हमारी विशेषता है हमारा धर्म।

धर्म के संबंध में विपरीत धारणाएं

परंतु दुर्भाग्य से अपने धर्म के संबंध में न केवल उस पर निष्ठा न रखने वाले अपने समाज के कुछ व्यक्तियों में विपरीत धारणाएं हैं, अपितु उस पर श्रद्धा रखने वाले लोगों के मन में भी वही बात है।

सश्रद्ध लोगोंमें वे लोग रहते हैं जो धर्म को केवल चोदना लक्षण—विधिनिषेध का मार्गदर्शन करना ही धर्म का लक्षण—समझते हैं। तदनुसार आचरण करने मात्र से ही परलोक प्राप्ति होती है और सिद्धियां प्राप्त कर उनके द्वारा कुछ चमत्कार दिखाकर लाभ हो सकता है, ऐसी भी इन लोगों की धारणा है। उसी प्रकार से पूरी तरह से पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित लोगों की यह धारणा है कि हमारा धर्म शिथिल है, लचीला है, उसमें विधिनिषेध के कोई सामान्य बंधन नही हैं। एक

के लिए एक प्रकार के व्यवहार की अनुमति है तो दूसरे के लिए वही व्यवहार निषिद्ध माना गया है, जैसा कि हम विवाह-विच्छेद की व्यवस्था के संबंध में देखते हैं। पुनः उपासना का भी सबके लिए एक ही प्रकार का विधान नहीं है और परमात्मा के संबंध में भी सबकी कल्पना समान नहीं है, जैसी समानता अन्य उपासना पंथों में देखी जाती है। सब लोग परमात्मा के संबंध में अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार, अपने-अपने भिन्न-भिन्न उपासना के मार्ग अपनाते हैं। अतः उपहास करते हुए ये लोग कहते हैं कि अपना धर्म अंग्रेजों के संविधान जैसा अलिखित, अस्पष्ट एवं लचीला है। इसका कोई मौलिक आधार अथवा सिद्धांत नहीं है।

इस भ्रम का उत्तर आगे दिये गये विवरण में विस्तृत रूप से देने का प्रयास किया जायेगा। परंतु आश्चर्य इस बात से होता है कि अंगेजी संविधान की विशेषता को समझने में भी ये लोग असमर्थ हैं। अंग्रेजी संविधान के ये जो लक्षण बताए गये हैं उनके गुणावगुणों का निकष उनके यहां प्रचलित जीवन पद्धति की अभिव्यक्ति ही हो सकती है। उनका संविधान लचीला होते हुए भी उन्होंने जो परंपराएं निर्माण की हैं उनके परिणामस्वरूप जो अवरोध एवं संतुलन की समुचित व्यवस्था (checks and balances) है उसके कारण जल्दबाजी और अविचार से उसमें वे संशोधन नहीं करते, यह हमने अनुभव किया होगा। उस देश में व्यक्ति स्वातंत्र्य होते हुए भी उसका सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं है। उनका शासनरूढ़ दल अपने को शासक और समाज को शासित नहीं समझता; और न विरोधी दल केवल विरोध की ही भावना से विरोध करता है। इस संबंध में अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं; परंतु विषयांतर होने के कारण उनका उल्लेख करना अनुचित होगा। और इस सब परंपरा निर्मित अलिखित संविधान के एवं उसके प्रति श्रद्धा के कारण राष्ट्र में एक अद्वितीय सामंजस्य निर्माण कर उन्होंने सारे संसार में अपना साम्राज्य निर्माण किया और साम्राज्य न रहने के पश्चात् आज की साधारण स्थिति में भी उनका राष्ट्र जीवन शृंखलित है। क्या यह स्थिति आदर्श नहीं ? क्या यह उनके संविधान की गुणवत्ता का परिचायक नहीं है ? इसका हमें विचार करना होगा और विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलेगा कि आखिर एक सुव्यवस्थित एवं आदर्श जनतंत्र के रूप में उन्होंने अपना विकास किया है। हमारा धर्म ठीक इसी प्रकार से लचीला है और उसके गुणावगुणों का निकष अपने धर्म के आधार पर सश्रद्ध अन्तःकरण से अभिव्यक्त अपनी जीवन पद्धति की सफलता में है।

इन लोगों की दूसरी यह भी धारणा है कि इहलोक कल्याण से धर्म का कोई संबंध नहीं है, यह केवल परलोक का ही विचार करता है। अतः वे कहते हैं कि परलोक है अथवा नहीं है, हमें ज्ञात नहीं है। अतः हमारे लिए परलोक कल्याण

की दृष्टि से धर्म निरर्थक है।

विपरीत धारणाओं का कारण एवं निरसन का सूत्र

धर्म केवल परलोक कल्याण का विचार करता है, यह धर्म के अर्थ का अधूरा अर्थ इन लोगों ने क्यों किया है, इस संबंध में विचार करें तो समझ में आयेगा कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से अपने सिद्धान्तों को समझ लेने का इन लोगों द्वारा जो प्रयास किया गया, उसी का यह दुष्परिणाम है।

अंग्रेजों ने जब अपना साम्राज्य यहां प्रस्थापित किया तब उसे दृढ़मूल करने के लिए यहां की भाषाओं का अध्ययन करना और यहां के लोगों को अंग्रेजी भाषा सिखाना उनके लिए आवश्यक हुआ। तब उन्होंने यहां जो-जो वस्तुएं देखीं उन-उन वस्तुओं के नाम पूछे। उदाहरणार्थ कुत्ते की ओर इंगति करते हुए उन्होंने पूछा कि 'इसे क्या कहते हैं ?' और हम लोगों ने उत्तर दिया कि 'कुत्ता'। तब उन्होंने अध्ययन किया कि कुत्ते माने (Dog)। जहां कहीं उन्हें ऐसी वस्तु दिखाई दी जो उनके यहां उपलब्ध नहीं है, उस वस्तु का नाम उन्होंने ज्यों-का-त्यों अपनाया। उदाहरणार्थ घी माने (Ghee)। और फिर हमारे यहां की उपासना आदि विधि देखकर उन्होंने यह सोचा कि यह अपने यहां के Religion जैसा दिखता है। अतः उन उपासनाओं के संबंध में उन्होंने लोगों से पूछा। जब लोगों ने कहा कि— 'यह हमारे धर्म का आचरण है' तब संभवतः विशेष गहराई में जाकर विचार न करते हुए धर्म के लिए अंग्रेजी में समानार्थी शब्द Religion है, ऐसा उन्होंने सोचा और हम लोगों को अंग्रेजी सिखाते समय सिखाया कि Religion माने धर्म।' बस, यहीं से धर्म शब्द के अर्थ के संबंध में हमारे मन में भ्रम उत्पन्न होना प्रारंभ हुआ। परंतु थोड़ा-सा चिंतन करने पर यह समझ में आयेगा कि Religion को धर्म का समानार्थी शब्द मानने में अतिव्याप्ति का दोष है। Religion शब्द एक संकुचित अर्थ व्यक्त करता है; जब कि धर्म शब्द में अतिव्यापक अर्थ समाविष्ट है। Religion शब्द का अर्थ अंग्रेजी कोष में यह दिया है Religion means a system of faith and worship अर्थात् 'एक विशिष्ट प्रकार की श्रद्धा और उपासना की पद्धति।' उपासना, पद्धति श्रद्धा का विषय होगी जिसमें कोई विचार नहीं, कोई तत्त्व-ज्ञान नहीं। केवल विश्वास। यह उपासना पद्धति किसी साधु महात्मा द्वारा निर्दिष्ट रहती है और उसके द्वारा परलोक प्राप्ति अथवा परमार्थ प्राप्ति होती है। अब आज का अंग्रेजी विचारों से प्रभावित प्रगतिशील एवं विज्ञानवादी व्यक्ति न किसी परलोक की कल्पना पर विश्वास करता है, न किसी साधु महात्मा पर उसकी श्रद्धा रहती है। सोचता है कि ये केवल बुद्धि का विकास कुंठित करने वाली बातें हैं। चूंकि इहलोक कल्याण से इसका कोई संबंध नहीं; अतः इसका पालन करने की कोई आवश्यकता नहीं। जिसे पालन करना हो वह

भले ही करे। वह केवल व्यक्तिगत आचरण के लिए है। हमारा उससे कोई संबंध नहीं हैं।

यह सब अविचार उत्पन्न होने का एकमात्र कारण यह है कि हमने Religion को धर्म का समानार्थी शब्द स्वीकार कर लिया। वस्तुत: Religion शब्द की अपेक्षा धर्म शब्द का अर्थ अधिक व्यापक है; अत: Religion शब्द से केवल एक ही उपासना पद्धति का बोध होता है और हमारे धर्म में अनेक उपासना पद्धतियां हैं। पुन: उपासना पद्धति तक ही धर्म का दायरा सीमित नहीं है। उपासना पद्धति उसका अंग मात्र है। धर्म शब्द के संस्कृत कोष में अनेक अर्थ दिए हैं। वह 'धृ' धातु से बना है और उसका मूल अर्थ है 'ध्रियते लोक: अनेन अथवा धरति लोकं वा' अर्थात् 'जिसके कारण लोक का (सृष्टि का भी) धारण होता है अथवा जो लोक को (सृष्टि को भी) धारण करता है' अर्थात् जिसके कारण (जिन नियमों के कारण) गठन होता है वे नियम और अन्य अर्थ हैं : उपासना, परंपरा से रूढ़ भिन्न जाति अथवा संप्रदाय के आचार, विधान, संविधान, रूढ़ि, व्यवहार, नैतिक सदाचार, सत्कर्म, कर्त्तव्य, न्याय, नि:पक्षता, पवित्रता, नीति, प्रकृति, स्वभाव, प्रमुख वैशिष्ट्य पद्धति, प्रकार, साम्य, यज्ञ, सत्संगति, भक्ति आदि। स्पष्ट है कि उसका संबंध इहलोक से और उसमें प्राप्य कल्याण से भी है और जैसाकि आगे विशद करने का प्रयास किया जाएगा वह सर्वजीवनव्यापी और सर्वसंग्राहक भी है।

यह प्रतिपादन करने पर पाश्चात्य विचारों के प्रभावित लोग उपहास करते हुए महाभारत का वचन उद्धृत करते हैं कि—

'तर्कोऽप्रतिष्ठ: श्रुतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य वच: प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गत: स पन्था:।।

और फिर कहते हैं कि "देखो, स्वयं महाभारतकार कहते हैं कि 'तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है, वेदोक्तियों के अर्थ आपस में टकराते हैं, ऐसा एक भी मुनि नहीं जिसका वचन प्रमाण माना जा सके। धर्म का अर्थ गुहा में निहित है याने गुप्त है, रहस्यमय है। अत: बड़े लोग जिस मार्ग का अनुसरण करते हैं, वही एकमेव चलने योग्य मार्ग है।' स्पष्ट है कि सब परस्पर विरोधी बातें हैं। अत: निरर्थक हैं।" अब एक बात तो नि:संदेह हो गयी कि भले ही तर्क की कोई प्रतिष्ठा न हो, भले ही वेद मंत्रों के अर्थ भिन्न हों और भले ही ऐसा एक भी मुनि न हो जिसका वचन प्रमाण माना जाय, परन्तु वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि धर्म का अर्थ गुहा में निहित है। अत: स्पष्ट है कि हम यदि गहरे पानी पैठ कर उस गुहा में प्रवेश करेंगे तो हमारी समझ में वह आ सकता है। जो उस गुहा में प्रवेश करने के लिए

तैयार नहीं उनके लिए महाभारतकार कहते हैं कि महाजन जिस रास्ते से जाते हैं वही उनके लिए मार्ग है।

गुहा में प्रवेश करने पर अर्थात् गहराई से चिंतन करने पर यह समझ में आएगा कि तर्क की प्रतिष्ठा है, वेदोक्तियों में दिखने वाली मत भिन्नता वस्तुतः विरोध नहीं अपितु विरोधाभास है और प्रत्येक मुनि के वचन में कुछ अर्थ निहित है।

: २ :

तीन सत्य

भेद में अभेद

अपने धर्माचार्यों को समस्त सृष्टि का गहराई से चिंतन करने पर जो अनेक साक्षात्कार हुए उनमें प्रमुखतम यह है कि समस्त विश्व का अधिष्ठानभूत एक सत्य है। फिर उसे यथारुचि, यथामति कोई कुछ भी क्यों न कहे। हमने उसे परमात्म तत्त्व कहा और अनुभव किया कि वह सारे विश्व में व्याप्त है। ईशावास्योपनिषद् का प्रारंभ ही इस मंत्र से है कि—

'ईशावास्यमिदं सर्वं
यत्किंच जगत्यां जगत्।'

अर्थात् 'जगत् में जो कुछ चराचर संसार है वह सब ईश्वर द्वारा अधिष्ठित है (उसे भगवत्स्वरूप अनुभव करना चाहिए)।' छांदोग्योपनिषद् कहता है कि—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' ३-१४-१

अर्थात् 'यह सब ब्रह्म ही है।' श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'वासुदेवः सर्वम्' गीता ७-१९

अर्थात् 'यह सब वासुदेव है' और आगे वे कहते हैं कि—

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्न-
मेकांशेन स्थितो जगत्।' गीता १०-४२

अर्थात् 'मैं इस संपूर्ण जगत् को (अपनी योगमाया के) एक अंशमात्र से धारण करके स्थित हूं।' याने चर रूप में दिखने वाले प्राणी—मनुष्य, पशु, पक्षी, जलचर, खगोल स्थित तारे एवं ग्रह और अचर रूप में दिखने वाले वनस्पति, मिट्टी, पत्थर और अदृश्य आकाशादि सबमें यह परमात्म तत्त्व व्याप्त है। केवल कुछ में उसका आविष्कार— अभिव्यक्ति अधिक मात्रा में है और कुछ में कम मात्रा में, परन्तु है अवश्य। परिणामतः आचार्यों ने तर्क किया और अनुभव किया कि समस्त विश्व में भेद में अभेद है।

वैशेषिक दर्शन—महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन सम्पूर्ण जगत् में परमाणु

की सत्ता को स्वीकारता है। परमाणु गोल है, गतिमान् है। ये सभी तथ्य आज का विज्ञान मान चुका है। डाल्टन रदर फोर्ड के आधुनिक परमाणुवाद में भी यथावत् ये ही निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं। महर्षि कणाद ने इस परमाणु को अविनाशी बताया है। तथापि इस परमाणु में विभाग हो सकता है। परन्तु सजीव और निर्जीव यह भेद उसमें नहीं किया जा सकता।

आधुनिक आविष्कार

आधुनिक भारत के महान् वैज्ञानिक डा० सर जगदीशचंद्र बसु ने अति संवेदनशील उपकरण बनाए जो स्पष्टत: आण्विक प्रतिक्रिया का दिग्दर्शन करा सके। सजीव और निर्जीव—दोनों पर—उत्तेजना देने पर समान अणु प्रक्रियाएं होती हैं, इस प्रयोग को उन्होंने प्रत्यक्ष पेरिस में अगस्त १९०० में दिखाया। उस समय वहां पूज्यपाद स्वामी विवेकानंद उपस्थित थे। उनके श्रोता और दर्शक यह अनुभव करके आश्चर्यचकित हुए कि अपनी भूमि के एकात्मवाद को उन्होंने अर्वाचीन विज्ञान के प्रयोगों के कठोर परीक्षण द्वारा सिद्ध कर दिया। पेरिस में उनके विचारों का जो स्वागत हुआ उससे प्रोत्साहित होकर उन्होंने इंग्लैंड की रायल इन्स्टीट्यूशन में १० मई १९०१ को इस प्रयोग का प्रतिपादन किया। रविवार ६ मार्च १९७७ के नई दिल्ली से प्रकाशित 'Statesman' के साप्ताहिक परिशिष्ट में लिखे अपने 'Scientist as Sage' नामक लेख में आर० के० दास गुप्ता ने इस प्रसंग का वर्णन करते हुए डा० बसु के वाक्य उद्धृत किए हैं कि—

"Amongst such phenomena how can you draw a line of demarcation and say there the physical ends and here the physiological begins. Such absolute barriers do not exist. It was when I came upon the mute witness of these self made records and perceived in them one phase of a pervading unity that bears within it all things; the mute that quivers in the ripples of light, the beaming l ife upon our earth, and the radiant suns that shine above it was then that I understood for the first time a little of that message proclaimed by mancestors on the banks of the Ganges thirty centuries ago." They who see but one in all the changing manifoldness of the universe unto them belongs eternal truth unto none else, unto none else."

अर्थात् 'इन श्रेष्ठ घटनाओं में आप कोई एक विभाजक रेखा खींच कर यह कैसे कह सकते हैं कि यहां भौतिकता का—जड़ का—अन्त और वहां जैव गठन का प्रारम्भ होता है। इस प्रकार का सुस्पष्ट विभाग होता ही नहीं। जब मैंने इन

स्वयंभु मौन तथ्यों को देखा और जब मैंने उनमें स्थित एक सर्वव्यापी सत्य का—किरणों की लहरों में थिरकते कण, अपनी पृथ्वी पर स्थित प्रचुर जीवन एवं असंख्य दंदीप्यमान आकाश स्थित सूर्यों का—एक पहलू देखा तब ही तीस शतक पूर्व गंगा के तट पर अपने पूर्वजों द्वारा दृष्ट एवं उद्घोषित सत्य का एक अंश अल्प मात्रा में मुझे समझ में आया कि 'इस जगत् की परिवर्तनशील आकृतियों में केवल एक सत्य का साक्षात्कार जिन्हें हुआ है वे ही सत्य द्रष्टा हैं और कोई नहीं, और कोई नहीं ।'

यह उक्ति सम्भवतः कठोपनिषद् से उद्धृत है कि—

'नित्योऽनित्यानां चेतन श्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मसंस्थं येऽनुपश्यंति धोरा-
स्तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥' २-२-१३

अर्थात् जो अनित्य में नित्य, सब चेतनों को चेतना देने वाला, अपने कर्मानुसार सबको कर्म फल देता है उस आत्मसंस्थ को जो धीर लोग देखते हैं, उन्हें शाश्वती शांति प्राप्त होती है और किसी को नहीं (प्राप्त होती है) ।

अब इस शताब्दी में इलेक्ट्रोन, प्रोटान और न्यूट्रान के रूप में परमाणु के विभाग का आविष्कार हो चुका है और उससे भी छोटे कण टेक्यान की खोज हो चुकी है जो प्रकाश कण फोटान से भी अधिक तीव्रगामी है। गति या क्रिया का मूल कारण इन सूक्ष्म किरणों में निहित चार्ज अथवा एनर्जी याने ऊर्जा है। निर्जीव या जड़ तथा सजीव या चेतन इस ऊर्जा के दो रूप हैं—ऊर्जा की अभिव्यक्ति की दो विधाएं हैं। वैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि यह एनर्जी अथवा ऊर्जा अविनाशी है और ईश्वर के लिए कहे गए विशेषण इस ऊर्जा पर लागू होते प्रतीत होते हैं। परन्तु इस ऊर्जा को दो रूपों में—अर्थात् जड़ एवं चैतन्य में विभक्त करने वाला और उसे कब, क्यों और कैसे करना इसका निर्णायक एवं नियामक अन्य कोई सत् तत्त्व होना स्वाभाविक एवं अपरिहार्य लगता है। वह तत्त्व परमात्म तत्त्व होना चाहिए क्योंकि ऊर्जा साधन है कर्ता नहीं।

वैज्ञानिक अद्वैतवाद के अनुसार पदार्थ एवं चेतना या ऊर्जा परस्पर परिवर्तनीय हैं और तत्वतः एक हैं। पदार्थ का ऊर्जा में परिवर्तन विज्ञान सम्मत है; परन्तु ऊर्जा के पदार्थ में संघनन के लिए कुछ अनिश्चित (indeterminate) घटकों का अथवा अव्याख्येय नियमों का (non-statistical concepts) होना अपेक्षित है। चेतना और पदार्थ में जो प्रकट भेद प्रतीत होता है वही नाम और रूप का कारण है। इन सारे जड़ और चेतन का स्रष्टा परमात्मा है। वही रहस्य है, अव्याख्येय है, विचारातीत सर्वोत्कृष्ट है। उसको जानकर ही समस्त रहस्य प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं। छांदोग्योपनिषद् कहता

है कि—

'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेष्वनु-तमेषू-तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्य दिद मस्मिन्नंतः पुरुषं ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैत दस्मिञ्छरीरे स ् स्पर्शेनेष्णिमानं बिजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैत-त्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपश्रृणोति तदेतद् दृष्टं श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद।'

३-१३-७

अर्थात् 'अब जो इस द्युलोक से (ऊर्जा से ?)। याने अधिक ऊंची अथवा श्रेष्ठ विश्व के पृष्ठ पर (अथवा) अनुत्तम—जिससे अधिक उत्तम नहीं याने सर्वोत्तम लोक में दीप्यमान है वह ज्योति है, (वह कौन-सी ?) जो इस अन्तःपुरुष में ज्योति है, उसकी यह दृष्टि—जब वह (अर्थात् जिसके द्वारा) शरीर में संस्पर्श से उष्णिमा को जानती है—वह दृष्टि एवं उसकी यह श्रुति जब वह (अर्थात् जिसके द्वारा) दोनों कान बन्द कर रथ के जैसा घोष, सांड के डकारने जैसा नाद अथवा ज्वलत् अग्नि के समान ध्वनि सुनती है—वह श्रुति। उस दुष्ट एवं श्रुत इन गुणों से विशिष्ट ज्योति की उपासना करें। (जो यह उपासना करता है) वह दर्शनीय एवं प्रख्यात होता है, जो यह जानता है, जो यह जानता है।' उस परमात्मा का वर्णन करते हुए संजय ने कहा है कि—

'दिवि सूर्य सहस्रस्य
भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्
भासस्तस्य महात्मनः॥' गीता ११-१२

अर्थात् 'आकाश में सहस्रावधि सूर्यों की यदि एक ही समय ज्योति उदित होवे तो उसकी ज्योति के समान प्रखर तेजस्वी आभा उस परमात्मा की होना संभव है।' यह उष्ण स्पर्श भाव नाम एवं रूप करने के लिए देह में अनुप्रविष्ट चैतन्यात्म ज्योति का लक्षण है क्योंकि सजीव उष्ण और मृत शीत होता है। याने दृश्य ज्ञान एवं स्पर्श ज्ञान अथवा अन्य गुण ज्ञान करा देने वाली वह ज्योति द्युलोक से (ऊर्जा से) अधिक श्रेष्ठ है। वह परमात्मा है जो सबमें और सबसे परे स्थित है, सर्वव्यापी है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिान् है। वह हमारी अनुभूतियों, आस्था एवं भक्ति में रचा-बसा है। वह ऊर्जा को दो रूपों में—जड़ एवं चैतन्य में—विभक्त करने वाला निर्णायक एवं नियामक है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने दोहावली में कहा है कि—

जो चेतन कहं जड़ करई
जड़हि करई चैतन्य।
अस समर्थ रघुनाथ कहि
भजहिं जीव ते धन्य॥

कर्मवाद एवं जीवन की विकसनशीलता

उन्हें दूसरा साक्षात्कार हुआ कर्मवाद का और उसके द्वारा जीवन की विकसनशीलता का। समस्त प्राणियों को अपने-अपने कर्मानुसार फल मिलता है। वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है कि—

'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।' ३-३-१३

अर्थात् 'पुण्यकर्म करने से मनुष्य पुण्यवान् होता है और पाप करने से पापवान् होता है।' महाभारतकार कहते हैं कि —

'स नायमफलो धर्मो
ना धर्मोऽफलवानपि।'

अर्थात् 'धर्म (धर्मानुसार आचरण) फलरहित नहीं (अच्छे फल देता है) और अधर्म भी (अधर्माचरण भी) अपना फल (कुफल) देता ही है। (इस प्रकार प्रयास करते हुए और ठोकर खाते हुए भिन्न-भिन्न योनियों से गुजर कर जीव का विकास होते-होते उसे मनुष्य योनि प्राप्त होती है और उस मनुष्य योनि में भी बहुत जन्मों में सुकृत करने पर जीवात्मा को शाश्वत् सुख, शांति—मुक्ति—परमात्मा की प्राप्ति होती है।'

यहूदी, ईसाई एवं मुस्लिम मत

यों तो कर्मवाद एवं जीवन की विकसनशीलता का सिद्धान्त यहूदी, ईसाई एवं मुस्लिम उपासनाओं (Religions) के प्रणेताओं ने भी स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ वायबल में कहा है कि "Reap as thou sowest" अर्थात् 'जैसा तुम बोवोगे वैसा फल तुम्हें मिलेगा।' और जीवन की विकसनशीलता के बारे में स्वयं ईसामसीह के जीवन की एक घटना है। एक बार रास्ते से गुजरते समय उन्होंने देखा कि एक गांव के लोग एक व्यक्ति को पत्थर मार रहे हैं। उन्होंने लोगों से कहा 'भाई जरा रुको' और फिर उनसे पूछा, 'क्यों उसे पत्थर मार रहे हो ? जब लोगों ने कहा कि 'इसने पापाचरण किया है इसलिए हम इसे पत्थर मार रहे हैं', तब ईसा मसीह ने उनसे पूछा, 'तुम में से क्या कोई अपने सीने पर हाथ रखकर यह कह सकता है कि मैंने आज तक कोई पाप नहीं किया है ? अपने अतीत को टटोल कर देखो और जो ऐसा कह सके वह हाथ ऊपर उठाए।' प्रत्येक ने यही अनुभव किया कि आज भले ही मैं साधुवाद का प्रचार करूं पहले मेरे हाथों पापाचरण हुआ है और इसलिए किसी ने भी हाथ ऊपर नहीं उठाया। तब ईसामसीह बोले—

"Every saint has a past and every sinner has a future."

अर्थात् 'आप जो आज साधु बने हो वे अतीत में पापी थे—इनके हाथों पहले कोई-

ना-कोई पाप हुआ है—और आज इसके हाथों यदि पापाचरण हुआ है तो कल इसका भविष्य भी उज्ज्वल बन सकता है—यह साधु बन सकता है।' याने कर्मवाद एवं जीवन की विकसनशीलता का प्रतिपादन उन्होंने भी किया है। परन्तु ईसामसीह द्वारा प्रणीत ये दोनों सिद्धान्त कुछ अपनी ही सीमाओं से आबद्ध हैं। यहूदी एवं मुस्लिम सिद्धान्त भी इसी प्रकार से सीमित हैं; अतः इतना प्रतिपादन करने के पश्चात् जो अन्य प्रश्न उपस्थित होते हैं उनका संतोषजनक उत्तर देने में ये तीनों उपासना पंथ,(Religions) असमर्थ हैं। कर्मवाद हेतु हेतुमद्भाव पर—कारण कार्यवाद पर—आधारित है। याने कारण यह हेतु रहने पर ही हेतुमद् याने कार्य सम्पन्न होता है। और कार्य सम्पन्न हुआ तो कारण का होना अपरिहार्य होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार विद्यमान परिस्थिति का वे कोई कारण नहीं बता सकते। उदाहरणार्थ एक बालक जन्म से ही धनवान् तो दूसरा धनहीन एक स्वास्थ्य सम्पन्न तो दूसरा अस्वस्थ, एक मेधावी तो दूसरा निर्बुद्ध अथवा एक साधु तो दूसरा दुष्ट होता है। अर्थात् परिणाम तो हमें दिखता है, परंतु कारण नहीं दिखता। यह फल तो बिना बोये नहीं मिल सकता। साथ ही मृत्यु के कुछ समय पूर्व मनुष्य जो अच्छे अथवा दुष्ट आचरण करता है, उनका अच्छा अथवा खराब फल उसे कब मिलेगा ? कारण रहते हुए तो फल होना अपरिहार्य है। अतः जन्म के समय दृश्यमान फल के हेतु का एवं मृत्यु के पूर्व किये हुए कर्म के फल का जो अभाव दिखता है उसका उत्तर देने में वे असमर्थ होते हैं। पहली स्थिति को वे संयोग (accident of birth) मानते हैं। अर्थात् उसका समर्थन करने में वे असमर्थ होते हैं। जन्म के समय की सुस्थिति अथवा दुःस्थिति के कारणों को वे समझ नहीं सके। परिणामतः धर्म माने अंधश्रद्धा का विषय, इस भाव का प्रादुर्भाव हुआ। विद्यमान विषमताओं के कारण जीवन में मनोमालिन्य एवं द्वेष की भावना प्रदीप्त हुई और संभवतः उसी ने समूहवाद (Communism) को—साम्यवाद शब्द-अर्थ के अन्तर को व्यक्त करता है—जन्म दिया। दूसरी स्थिति को मृत्यु के समय के पूर्व किये गए कर्मों की फल प्राप्ति को, वे (Doomsday) कयामत के समय फल मिलेगा, ऐसा कहकर समझाने का प्रयत्न करते हैं। मानों उस समय फल मिला भी तो भी इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो कुछ व्यक्ति ने इस जन्म में विकास किया उससे अधिक विकास करना उसके लिए संभव नहीं। इससे अधिक अच्छे फलों को वह प्राप्त नहीं कर सकता और उसका विकास कुंठित होगा। मानों दुराचरण करने के कारण जिसे नरक की प्राप्ति हुई, वह फिर नरक में ही पड़ा रहेगा। भविष्य में उसे उत्थान के लिए कोई अवसर नहीं मिलेगा। इस विचार का परिणाम यह हुआ कि—

'यावज्जीवं सुखं जीवेद्
ऋणं कृत्वा धृतं पिवेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य
पुनरागमनं कुत: ।।'

अर्थात् 'जब तक जीवित हैं तब तक सुख से जियो, ऋण लेकर भी घी पियो। (क्योंकि) एक बार यह शरीर भस्म हुआ (नष्ट हुआ) कि पुन: थोड़े ही वापस आने वाला है। यद्यपि नास्तिकों के जो शरीर को ही स्वत्व समझते हैं, नाम पर यह उक्ति उद्धृत की जाती है तथापि उपरिनिर्दिष्ट आस्तिकों की भी, यहूदी, ईसाई एवं मुस्लिमों की भी विचारधारा की, पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर विश्वास के अभाव में परिणति इस मन:स्थिति में होना अपरिहार्य है कि कयामत के समय पर आत्मा को परमात्मा से अपने कर्म का जो फल प्राप्त होगा, उसी फल को भोगते रहना पड़ेगा। आगे विकास करना सम्भव नहीं; क्योंकि पुनर्जन्म प्राप्त कर उज्ज्वल भविष्य के लिए प्रयत्न करना संभव नहीं। अत: खाओ पीयो और मौज करो इस मनोवृत्ति का उदय हुआ। स्पष्ट है कि इन उपासना-पंथों के (religions) सिद्धांत अपनी चार सीमाओं में आबद्ध हैं। एक यह कि यह केवल मनुष्य योनि के लिए लागू होती हैं। दूसरी यह कि जन्म के समय अच्छी अथवा खराब स्थिति का समर्थन करने में वे असमर्थ होते हैं! तीसरी यह कि मृत्यु प्राप्त होने तक ही उसका जो भी कुछ विकास होगा, वहीं तक वह सीमित रहेगा। मृत्यु के पश्चात् उसके विकास में कुंठा उत्पन्न होगी। और चौथी यह कि अनेक बार के कर्म के अनुपात में फल नहीं मिलता इसका वे कोई युक्तिसंगत उत्तर नहीं दे सकते।

परन्तु हमारी इस पवित्र भूमि में हमारे आचार्यों ने इस पर गंभीरता से विचार किया और कर्मवाद के सिद्धांत के आधार पर उन्होंने तर्क किया कि जन्म के समय की स्थिति का अच्छी अथवा खराब जो भी हो कोई कारण होना चाहिए और इस जीवन में किये कर्मों के अभुक्त फलों को मृत्यु के पश्चात् भोगने के लिए अस्तित्व होना चाहिए। चिंतन करने पर उन्हें तर्कसंगत उत्तर मिला कि जन्म के पूर्व हो अथवा मृत्यु के पहले और शरीर त्यागने के पश्चात् हो—शरीर धारण करने के पहले और शरीर त्यागने के पश्चात् भी जीव का अस्तित्व रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रेरित करते समय कहा है कि—

'न त्वेवाहं जातु नासं
न त्वं नेमे जनाधिपा:।
न चैव न भविष्याम:
सर्वे वयमत: परम् ।।' गीता २-१२

अर्थात् 'न तो ऐसा ही (है कि) मैं किसी काल में नहीं था (अथवा) तू नहीं था। (अथवा) ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही (है कि) इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।' पूर्व जन्मों के कर्मों का अभुक्त फल मनुष्य इस जन्म में भोगता है और इस

जन्म के कर्मों का अभुक्त फलों को उसे अगले जन्म में भुगतना पड़ता है। अर्थात् अनेक जन्मों की परंपरा उन्होंने देखी और उपरिनिर्दिष्ट इन दोनों स्थितियों में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का उन्होंने उत्तर दिया। तो क्या पुनर्जन्मवाद केवल लोगों को समझाने के लिए उन्होंने प्रतिपादित किया? 'तुष्यतु दुर्जन न्याय' से वैसा मान भी लिया जाय तो भी उस विश्वास ने हमें सत्कर्म करने की प्रेरणा दी और दुष्कर्म करने से परवृत्त किया, इस सत्य को हमें स्वीकार करना ही होगा। परन्तु यह केवल अंध श्रद्धा का विषय है ऐसी बात नहीं। वस्तुतः पुनर्जन्म होता है। हमें पूर्व जन्म का स्मरण नहीं, ऐसा कहकर हम उसे अमान्य नहीं कर सकते। हमारी शैशवावस्था में जो-जो घटनाएं घटीं, उनका हमें स्मरण नहीं, इसलिए क्या हम ऐसा कह सकते हैं कि हमारे लिए वह अवस्था नहीं रही? यह कहना हास्यास्पद होगा। ठीक उसी प्रकार से स्मृति का अभाव पूर्वजन्म के अभाव को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं। पूर्व जन्म होता है। मेधावी व्यक्तियों को जिस प्रकार शैशवावस्था की अनेक घटनाएं स्मरण रहती हैं, उसी प्रकार वीतराग ज्ञानी पुरुषों को भी अपने पूर्वजन्म का स्मरण रहता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि—

'बहूनि मे व्यतीतानि
जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि
न त्वं वेत्थ परंतप।।' गीता ४-५

अर्थात् 'हे अर्जुन मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं (परंतु) हे परंतप उन सबको तू नहीं जानता है (और) मैं जानता हूं।' यह आप्त वचन पूर्वजन्म के सिद्धांत का समर्थन करता है और हमारे यहां प्रणीत सभी संप्रदाय मानते हैं। अपवाद है केवल नास्तिकों का। किन्तु वे भी ईसाईयों की तरह इस सीमा तक सहमत हैं कि कर्म का फल मिलता है। कर्मवाद, पुनर्जन्म, एवं जीवन की विकसनशीलता के सिद्धांत के आधार पर हमनें यह निष्कर्ष निकाला है कि केवल मनुष्य ही नहीं अपितु समस्त प्राणी शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए अपनी-अपनी गति से परमात्मा की ओर अग्रसर होते हैं। मुक्ति प्राप्त कर स्वयं परमात्मा बनते हैं। यह उस जीवात्मा के विकास की चरमावस्था है और इसलिए प्रत्येक मनुष्य और अन्य प्राणी भी अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न सीढ़ियों पर खड़े विकासोन्मुख हैं।

सृष्टि की परस्परपूरक व्यवस्था

अपने धर्माचार्यों को और भी एक महत्त्वपूर्ण साक्षात्कार हुआ कि समस्त प्रकृति की व्यवस्था में एक परस्परपूरकता है। किसी कवि द्वारा रचित संस्कृत में एक सुभाषित है कि—

'शशिना च निशा निशया च शशी
शशिना निशया च विभाति नभः।
पयसा कमलं कमलेन पयः
पयसा कमलेन विभाति सरः ।।'

अर्थात् 'चंद्रमा के कारण रात्रि की और रात्रि के कारण चंद्रमा की कांति बढ़ती है और दोनों के कारण आकाश शोभायमान होता है। जल के कारण कमल की और कमल के कारण जल की लक्ष्मी बढ़ती है और दोनों के कारण जलाशय सुन्दर दिखता है।' यह कोई कवि कल्पना मात्र नहीं है। हम शरीर और उसके अवयवों का ही उदाहरण लें तो हमें यह दिखाई देगा कि इन भिन्न-भिन्न आकृति के और भिन्न-भिन्न कार्य क्षेत्र वाले अवयवों में एक एकरस जीवन है और सब परस्परपूरक हैं। पैर चलते हों तो आंख उन्हें रास्ता बताती है जिसके कारण रास्ते में गड्ढा आया तो सम्हाल कर पैर रखना हमारे लिए सम्भव होता है। जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों में यह परस्परपूरकता है, उसी प्रकार से यह परस्परपूरकता भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में दिखाई देती है। एक छोटे से शिशु के जीवन में माता के बिना अपूर्णता है। माता के बिना उसका संगोपन नहीं हो सकता। परन्तु माता पूर्ण है क्या ? तो हम यह अनुभव करते हैं कि पुत्र के बिना माता भी अपूर्ण है। पुत्र उस अपूर्णता को पूर्ण करता है। पुत्रवती स्त्री को जो सुख, आनन्द प्राप्त होता है, वंध्या उससे वंचित रहती है, यह सर्वत्र अनुभव है। यह परस्परपूरकता केवल परिवार तक सीमित नहीं, अपितु सारे समाज में व्याप्त है। व्यक्ति ने आज तक जो कुछ ज्ञान पाया और वह जो भी कुछ बना हुआ है उसका श्रेय समाज को है। भविष्य में भी उसे अपना जीवन विकसित करने के लिए समाज की आवश्यकता होती है। हम भले ही काफी बुद्धिमान हों, शक्तिमान हों अथवा धनवान हों, परन्तु शरीर की रक्षा के लिए आवश्यक वस्त्र हमें किसी व्यापारी से ही मिलता है जो उसके पास किसी मिल मालिक अथवा बुनकर से ही आता है। उस वस्त्र निर्माता को लगने वाला कपास किसी किसान से ही प्राप्त होता है और किसान को अन्य जीवनावश्यक वस्तुओं की उपलब्धि के लिए समाज की ओर देखना पड़ता है। समाज ने आज तक जो प्रगति की, उन्नति की, उसका श्रेय व्यक्ति को रहता है; क्योंकि समाज से प्राप्त बौद्धिक शिक्षा को अपनी प्रतिभा से, प्रेरणा से और अधिक विकसित कर, अपना-अपना अनुभव, अपना ज्ञान समाज को वह देता है, तभी समाज की प्रगति अथवा उन्नति होती है। परस्पर-पूरकता का यह दायरा केवल समाज तक ही सीमित नहीं है। व्यक्ति एवं समाज को स्वजीवन के निर्वाह के लिए अन्य प्राणियों पर निर्भर रहना पड़ता है। पुनः समस्त प्राणि वर्ग को स्वजीवन के लिए आवश्यक जो प्राण वायु है वह वनस्पतियों द्वारा प्राप्त की जाती है और वनस्पतियों को स्वजीवन के लिए आवश्यक

कार्बन डाईआक्साइड मनुष्य जैसे प्राणियों द्वारा दी जाती है। स्पष्ट है कि समस्त सृष्टि की व्यवस्था ही परस्परपूरक है। कोई भी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं। अतएव प्रत्येक को अपने-अपने विकास के लिए परस्परानुकूल होना न केवल आवश्यक है अपितु अपरिहार्य भी है। एक अन्य सन्दर्भ में अर्जुन को उपदेश करते समय श्रीकृष्ण ने कहा है कि—

'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा
पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्व-
मेषवोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ गीता ३-१०॥

अर्थात् प्रजापति ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा (तुम लोग) वृद्धि को प्राप्त होवो (और) यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित कामनाओं का देने वाला होवे—

देवान् भावयतानेन
ते देवा भावयंतु वः।
परस्परं भावयंतः
श्रेयः परभवाप्स्यथ॥ गीता ३-११॥

अर्थात् 'इस यज्ञ द्वारा देवताओं को संतुष्ट करो (और) वे देवता तुम्हें संतुष्ट करें। आपस में (कर्तव्य समझकर) संतुष्ट करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होवोगे।' यद्यपि यह तात्कालिक यज्ञ की कल्पना के संदर्भ में कहा गया है तथापि प्रकृति की परस्पराश्रयता अतएव आदान-प्रदान का अर्थ भी व्यक्त करता है। श्री अरविंद कहते हैं कि—

"we find here, a sense so entirely subtle, figurative and symbolic given to the word 'sacrifice' and the conception of gods is so little local or mythological, so entirely cosmic and philosophical, that we can easily accept both as expressive of a practical fact of psychology and general law of Nature and so apply them to the modern conceptions of interchange between life and life and ethical sacrifice and self giving as to widen and deepen these and cast over them a more spiritual aspact and the light of a profounder and more for reaching Truth."

अर्थात् 'हम यह अनुभव करते हैं कि यहां 'यज्ञ' शब्द को इतना पूर्णरूप से गूढ़, अलंकारिक एवं प्रतीकात्मक अर्थ प्रदान किया हुआ है और देवों की संकल्पना इतनी कम स्थानीय और पौराणिक है और इतनी पूर्णरूप से वैश्विक एवं दार्शनिक है कि हम सहज रूप से यह व्याख्या कर सकते हैं कि दोनों मनोवैज्ञानिक,

व्यावहारिक सत्य के एवं प्राकृतिक सामान्य नियमों के द्योतक हैं; और इसलिए जीवसृष्टि के पारस्परिक आदान-प्रदान की, नैतिक त्याग एवं अर्पण करने की अद्यतन संकल्पना यहां इस सीमा तक लागू होती है कि जहां इसे व्यापक एवं गहरा किया जा सकता है और अधिक दार्शनिक पहलू का तथा गहन एवं अधिक मूलग्राही सत्य का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।'

यह परम कल्याण को प्राप्त करा देने वाला यज्ञ-कर्मचक्र-संसार के धारण के लिए आवश्यक है; यानी सब परस्परपूरक होने के कारण आदान-प्रदान की प्रक्रिया चलाना सबका कर्त्तव्य है, यह विचार आचार्यों ने दिया और दूरदर्शी मनुष्य इस यज्ञचक्र को चलाता है। परंतु क्षणिक सुख की कामना करने वाले लोग लेना जानते हैं, देना नहीं जानते—अर्थात् इस यज्ञचक्र को नहीं चलाते। यानी अपने लिए इंद्रियों द्वारा विषयोपभोग चाहते हैं, परंतु अन्यों के प्रति अपने कर्त्तव्यों को नहीं निभाते। उनके बारे में भगवान् कहते हैं कि—

'इष्टान् भोगान् हि वो देवा
दास्यंते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो
यो भुंक्ते स्तेन एव सः।। गीता ३-१२ ।।

अर्थात् 'तथा यज्ञ द्वारा बढ़ाए हुए देवता लोग तुम्हारे लिए प्रिय भोगों को देंगे; उनके द्वारा दिए हुए भोगों को जो पुरुष उनके लिए बिना दिए ही भोगता है, वह निश्चय चोर है।' उन लोगों की और अधिक निंदा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि—

'एवं प्रवर्तितं चक्रं
नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिंद्रियारामो
मोघं पार्थस जीवति ।।' गीता ३-१६ ।।

अर्थात् 'इस प्रकार जगत् के धारण के लिए चलाए हुए (यज्ञ) चक्र को जो इस जगत् में नहीं चलाता, उस इंद्रिय लंपट का जीवन पाप रूप है, व्यर्थ है।'

इन तीनों सत्यों का अर्थात् (१) सर्वत्र भेद में अभेद है, (२) कर्मवाद पर आधारित जीवन विकास की प्रक्रिया में सब जीव अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न सीढ़ियों पर खड़े हैं और (३) समस्त सृष्टि की व्यवस्था परस्परपूरक है—विचार किया तो हम यह अनुभव करेंगे कि समस्त संसार में सबके सुव्यवस्थित विकास के लिए आवश्यकता इस बात की है कि हम इन तीनों सत्यों को अनुभव कर परस्परानुकूल बनें।

: ३ :

सामंजस्य का सूत्र

यथाधिकार उपदेश

अब जब मनुष्य विचार एवं आधार की दृष्टि से भिन्न-भिन्न सीढ़ियों अथवा विकास के स्तर पर खड़ा है तब स्पष्ट है कि मनुष्यों में परस्परानुकूलता निर्माण कर उन्हें शाश्वत सुख तक पहुंचाने के लिए उनमें सामंजस्य निर्माण करना आवश्यक है और यह सामंजस्य कैसे निर्माण किया जाए यह प्रश्न उपस्थित होता है। उसके लिए हमारे धर्माचार्यों ने जो व्यवस्था निर्माण की उसका यदि एक सूत्र में उल्लेख करना हो तो वह है 'यथाधिकार उपदेश'। अतएव हमारे धर्म में हमें यही दिखायी देगा कि जिसकी जितनी पात्रता होगी, अधिकार होगा, रुचि होगी तदनुरूप उसे उपदेश कर उसके आत्मिक विकास में सहायता दी जाए।

अचेतन एवं सचेतन पर संस्कार करने की प्रक्रिया में भिन्नता

अचेतन वस्तु पर संस्कार करना हो तो एक ढांचा बनाकर उसमें संस्कार्य वस्तु ढाली जा सकती है। उदाहरणार्थ, हमें यदि नट बोल्ट अथवा यंत्र के अन्य पुर्जे बनवाना हो तो उसका एक सांचा तैयार कर पिघले लोहे को उस ढांचे में डालकर विशिष्ट आकार के पुर्जे तैयार करने के लिए पर्याप्त होता है। परंतु उपदेश का एक प्रकार का ढांचा तैयार कर सब मनुष्यों को उससे संस्कारित नहीं किया जा सकता। यह कार्य है सजीव पर—सचेतन पर—संस्कार करने का, जिसकी किए गए उपदेश अथवा संस्कार के संबंध में अपनी कोई प्रतिक्रिया (reaction) हो सकती है और वह प्रतिक्रिया प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव एवं ग्रहण करने की क्षमता के अनुसार विविध प्रकार की हो सकती है। जहां एकाध कोई ग्रहण करने की क्षमता रखेगा वहां दूसरे के लिए वह उपदेश आत्मसात् करना संभव न होगा और यदि उसने आत्मसात् करने का प्रयत्न किया तो परिणामतः उसमें विकृति आएगी। वहीं तीसरा उस उपदेश का विपरीत अर्थ निकालकर भ्रांतिचित्त हो सकता है। उदाहरणार्थ सत्य बोलने का उपदेश करने पर प्रथम

श्रेणी का व्यक्ति सदा सत्य बोलेगा; परंतु प्रसंगवशात् चोरों के भय से छिपे व्यक्ति का पता चोरों द्वारा पूछने पर उन्हें असत्य कहेगा। दूसरी श्रेणी का व्यक्ति यह सोचेगा कि सत्य बोलना अव्यवहार्य है, उससे हानि होती है और इसलिए उस उपदेश को तुच्छ मानकर सदैव असत्य बोलेगा और प्रसंगवशात् कोई सत्य बात कहने पर उस पर आपत्ति आयी तो वह 'सत्य बोलो' का उपदेश करने वाले व्यक्ति का तिरस्कार करने लगेगा। तीसरी श्रेणी का व्यक्ति बिलकुल एकांतिकता अपना कर प्रसगवशात् चोरों के भय से छिपे व्यक्ति का चोरों द्वारा पता पूछने पर उन्हें उसका पता बता देगा। अतः प्रत्येक व्यक्ति की पात्रता, रुचि, प्रवृत्ति देखकर ही उसे किस स्तर तक उपदेश करना ताकि वह उपदेश उसके आत्मिक विकास में सहायक हो सके, इसका विचार करना आवश्यक होगा। पुनः जब उपदेश किया जाता है तब संस्कार्य व्यक्ति की ग्रहणानुकूल मनोभूमिका (Receiptive mind) न हो तो ढके मुंह वाले बर्तन में दूध डालने जैसा वह व्यर्थ होगा। अतः उपदेश करते समय संस्कार्य व्यक्ति की ग्रहणानुकूल मनोभूमि का होना भी नितांत आवश्यक होता है। यथाधिकार 'उपदेश' के सूत्र को विशद करते हुए संत तुकाराम ने कहा है कि—

'अधिकारु तैसा करु उपदेश।
साहे ओझे त्यास। तैसे द्यावै ।।'

अर्थात् 'जिसका जितना अधिकार होगा
उसे उतना ही उपदेश करना।
जो जितना बोझ ढो सके
उस पर उतना ही लादना।।'

कहना न होगा कि उस पर अधिक बोझ लाद दिया तो उसकी कमर टूट जाएगी और वह फिर थोड़ा भी बोझ उठाने का साहस नहीं करेगा।

वैदिक उदाहरण

तैत्तिरीयोपनिषद् में एक कथा है जिसमें ब्रह्मविद्या के साधनभूत तप का निरूपण किया है तथा जिनका पहले निरूपण नहीं किया गया है उन अन्नादि विषयक उपासनाओं का भी वर्णन किया गया है अतः प्रारंभ किया गया है कि भृगु अपने पिता वरुण के पास गया और उसने पूछा कि 'जिससे समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके आश्रय से जीवित हैं, और जिसमें विलीन होते हैं उस ब्रह्म का ज्ञान मुझे दो।' गुरु ने कहा 'तप कर'। फिर तप करने पर उसने अनुभव किया कि 'अन्न ब्रह्म है।' फिर उसे लगा कि अपनी जिज्ञासा पूर्ण नहीं हुई। अतः उसने गुरु के पास जाकर पूछा 'ब्रह्म क्या है?' गुरु ने कहा 'तप कर'। फिर उसे ज्ञान हुआ कि 'प्राण ब्रह्म है।' वापस आकर चिंतन करने पर समाधान नहीं हुआ। पुनः गया और पूछा। गुरु ने कहा 'तप कर'। फिर उसे ज्ञान हुआ कि 'मन ब्रह्म है'। पुनः

बारी आयी। पुनः गुरु ने कहा कि 'तप कर'। तब उसे लगा कि 'विज्ञान ब्रह्म' है। पुनः चिंतन करने पर उसका समाधान नहीं हुआ और गुरु के पास जाकर पूछा गुरु की आज्ञानुसार तप करने पर उसने अनुभव किया कि 'आनंद ब्रह्म' है। इस कथा के पश्चात् आगे कहा है कि यह भृगु की जानी हुई और वरुण द्वारा उपदेश की हुई विद्या है; परमाकाश में स्थित है। ये जो भिन्न-भिन्न अनुभव भृगु को प्राप्त हुए क्या उनमें कोई भेद अथवा विरोध है ? थोड़ा-सा भी चिंतन करने पर समझ में आयेगा कि ये तो उसके बढ़ते अधिकार के अनुसार उसे हुए साक्षात्कार हैं। पहले 'अन्नं ब्रह्म' यह उसे अनुभूति हुई जैसा कि रोजी-रोटी की समस्या जन साधारण को होती है। परंतु उसके बढ़ते तप के साथ उसका अधिकार बढ़ता गया और अंततोगत्वा उसे साक्षात्कार हुआ कि 'आनंद ब्रह्म'। अब यदि कोई आरोप लगायेगा कि यहां उपासनाओं के उपदेश में एवं साक्षात्कार में भेद है तो उसका वह आरोप उपहासास्पद होगा। यहां विरोध नहीं अपितु विरोधाभास है। आध्यात्मिक विद्यादान करते समय यह जो यथाधिकार उपदेश करने की पद्धति हमने अपनायी वह विधिनिषेध की व्यवस्था करते समय भी हमने अपनायी है। अर्थात् जिसका जितना अधिकार होगा, उसके लिए उतने अधिक कठोर विधि-निषेध के नियम उसके आत्मिक विकास के लिए हमने अपनाये।

व्यावहारिक उपदेश में भी यह प्रेरक है

यथाधिकार ज्ञान, दान एवं उपदेश करने की यह व्यवस्था व्यवहार में मनुष्य का विकास करने के लिए आवश्यक होती है, यह थोड़ा-सा चिंतन करने पर भी समझ में आ सकता है। किसी अकर्मण्य मनुष्य को कर्म करने की प्रेरणा देनी हो तो पहले उसके अहंकार को जागृत करना पड़ता है। उसके अंतःकरण की आत्मीयता का दायरा सीमित होने के कारण उसके लिए प्रेरणा का विषय परिवार की दुःस्थिति हो सकती है और वह यदि विशाल अंतःकरण का हो तो उसके लिए राष्ट्र प्रेरणा का विषय हो सकता है। तो परिवार की अथवा राष्ट्र की दुःस्थिति उसे बताकर उसका मार्गदर्शन करना पड़ता है कि 'तेरे रहते हुए परिवार की अथवा राष्ट्र की यह दुःस्थिति तेरे लिए लांछन है, तेरे पुरुषार्थ को चुनौती है। अतः अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर उसमें सुधार कर कर्म करने की प्रेरणा देने के लिए जिसके अहंकार को जागृत किया, उसे यदि परिश्रम करने से आंशिक सफलता तो प्राप्त हुई किंतु उसका अहंकार ज्यों-का-त्यों रहा तो उसमें विकृति उत्पन्न होगी और अन्य सहयोगियों से उसका सामंजस्य नहीं रहेगा। परिणामतः उसका और उसके द्वारा अपनाये हुए कार्य का विकास कुंठित होगा और उस कार्य को हानि भी होगी। अतः कर्त्तव्यशील बनने के पश्चात् सहयोगियों से सामंजस्य रखकर वह अधिक कार्य संपन्न कर सके और उसका भी अधिक विकास

हो इसलिए यह आवश्यक होता है कि अपने अहंकार नष्ट कर वह ध्येय के प्रति समर्पण भाव जागृत करे। अत: तदनुसार अहंकार नष्ट करने का उसे उपदेश करना पड़ता है। वह जब पहली अवस्था में था तब दूसरी अवस्था के योग्य अहंकार को नष्ट करने का यदि उपदेश किया तो उस उपदेश को आत्मसात् करने की क्षमता के अभाव में उसकी अकर्मण्यता ही बढ़ेगी और उसमें अधिक विकृति आयेगी। पुन: थोड़ी उन्नत अवस्था में जब वह है तब उसे पहली अवस्था के योग्य अहंकार को बढ़ाने का उपदेश किया तो दूसरी आयी हुई विकृति याने अहंकार बढ़ने की विकृति—बढ़कर कार्य की और उसकी भी हानि होगी। याने तमोगुणी मनुष्य को प्रथम रजोगुणी बनने का और रजोगुणी मनुष्य को सत्व गुणी बनने का जो यह यथाक्रम उपदेश दिया इसमें न कोई विरोध है और न विसंगति।

पौराणिक उदाहरण

भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को युद्ध करने की दृष्टि से प्रेरित करने के लिए अनेक प्रकार से तर्क करते हुए कहा कि—

'अकीर्तिं चापि भूतानि
कथयिष्यंति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्ति-
र्मरणादति रिच्यते ।। गीता २-३४

अर्थात् '(तू युद्ध से पराङ्मुख हुआ तो) और सब लोग तेरी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति का भी कथन करेंगे और वह अपकीर्ति माननीय पुरुषों के लिए मरण से (भी) अधिक बुरी होती है।'

'भयाद्रणादुपरतं
मंस्यंते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो
भूत्वा यास्यसि लाघवम्।' गीता २-३५

अर्थात् 'और जिनको तू बहुत माननीय होकर (भी अब) तुच्छता को प्राप्त होगा (वे) महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से उपराम हुआ मानेंगे।' यह उपदेश करते समय भगवान् ने पहले अहंकार को जागृत किया है। आगे जाकर उसके आत्मिक विकास में वह अहंकार बाधक न हो इसलिए उन्होंने उपदेश दिया है कि—

'चेतसा सर्वकर्माणि
मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य
मच्चित्तः सततं भव ।।' गीता १८-५७

अर्थात्' 'सब कर्मों को मन से मेरे में अर्पण करते हुए—याने कर्मों के फलों को एवं कर्तृत्व को त्यागते हुए—मेरे परायण हुआ समत्व बुद्धि रूप निष्काम कर्म का अवलंबन करके निरंतर मेरे में चित्त वाला हो।' इस उपदेश के पश्चात् श्रीकृष्ण ने जब निरपवाद समर्पण का गुह्यतम उपदेश सुनाया तब उस उपदेश के पश्चात् उसे निःसंदिग्ध रूप से सावधान करते हुए यथाधिकार ही उपदेश करने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया। वे कहते हैं कि—

'इदं ते नातपस्काय
ना भक्ताय कदाचन
न चाशुश्रूषवे वाच्यं
न च मां योऽभ्यसूयति।।' गीता १८-६७

अर्थात् 'तेरे (हित के लिए कहे हुए) इस गीता रूप परम रहस्य को किसी काल में भी न (तो) तपरहित मनुष्य के प्रति कहना चाहिए और न भक्तिरहित के प्रति कहना चाहिए (एवं) जो मेरी निंदा करता है, उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिए।' स्पष्ट है कि यथाधिकार उपदेश करने का ही यह विधान है। योगी श्री अरविंद ने भी कहा है कि—

"Ego is the helper, Ego is the bar"

अर्थात् 'अहंभाव साधक है; अहंभाव बाधक है।' याने पात्रता कम हो तो कर्म करने की प्रेरणा देने के लिए पहले अहंकार सहायक होता है और पात्रता बढ़ने पर अहंकार अधिक सफलता प्राप्त करने में एवं आत्मिक विकास में बाधक होता है। अतः पहले अहंकार जागृत करना और बाद में अहंकार नष्ट करने के लिए उपदेश करना इसमें न कोई विरोध है न कोई विसंगति। व्यक्ति के बढ़ते अधिकार के अनुसार उसे किया हुआ वह उपदेश है। श्री अरविंद ने यह भी कहा है कि,

"Indian ethics has always seen the practical necessity of graded ideals for the moral and spiritual life of man."

अर्थात्, "व्यक्ति के नैतिक एवं आत्मिक जीवन में अधिकार के अनुसार आदर्श की व्यावहारिक आवश्यकता को हिन्दू नीति शास्त्र ने सदैव अनुभव किया है।

अद्यतन शिक्षाविदों को भी मान्य

इस प्रकार यथाधिकार उपदेश करने से ही तत्वों का सम्यग् ग्रहण शिष्यों द्वारा किया जा सकता है यह आज के शिक्षाविद् भी मान्य करते हैं। भौतिक ज्ञान देते समय भी यथाधिकार उपदेश की पद्धति अपनायी जाती है। उदाहरणार्थ, भौतिक विज्ञान की प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र को बताया जाता है कि सूर्य किरणों की गति सरल रेखा में रहती है। परंतु जैसा-जैसा उसे अधिक ज्ञान प्राप्त होता है वैसा-वैसा उसका अधिकार बढ़ता है और स्नातक पूर्वस्तर में उसे

बताया जाता है कि सूर्यकिरणें तरंगों में चलती हैं और फिर स्नातकोत्तर अध्ययन करते समय उसे बताया जाता है कि सूर्य किरणों की गति वक्र रहती है। गुरुत्वाकर्षण के कारण उनमें वक्रता आती है। अब इन तीनों उपदेशों में विसंगति है यह कहने का दुःसाहस तो केवल मूर्ख ही करेगा।

निष्कर्ष—अतः स्पष्ट है कि समस्त भिन्न आकृति एवं भिन्न प्रकृति वाले मनुष्यों में एक अभेद का अर्थात् सत्तत्व का साक्षात्कार कर अपने-अपने विकसन की अवस्था में वे भिन्न-भिन्न स्तर पर खड़े हैं, यह अनुभव कर, उनकी अपूर्णता को और इसलिए परस्परपूरकता को देख कर, उनके विकास के लिए उनका परस्परानुकूल होना आवश्यक है और तदर्थ उनमें सामंजस्य की आवश्यकता है, यह प्रतीति अपने आचार्यों को हुई। अतः उन्होंने तपस्या की अर्थात् चिंता की, अन्वेषणा की और सारे समाज का ठीक धारण करने वाली एक ऐसी सर्वजीवनव्यापी एवं सर्व संग्राहक व्यवस्था निर्माण की जिसे हमने धर्म कहा; अतः 'ध्रियते अनेन इति धर्मः' अर्थात् जिसके कारण धारण होता है, वह धर्म यह 'धर्म' शब्द का मूल अर्थ है। अतः उनका भौतिक एवं आत्मिक विकास सुव्यवस्थित रूप से हो, इस हेतु से यथाधिकार एवं यथासमय उपदेश तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विधान एवं विधिनिषेध की व्यवस्था धर्माचार्यों ने की। यह गुहा में निहित धर्म का तत्त्व है। आपाततः तर्क कुतर्क प्रतीत होगा, वेद वाक्यों में भिन्नता दिखेगी, जिसका वचन प्रमाण माना जा सके ऐसा एक भी मुनि न होगा तथापि जो गुहा में जाकर धर्म तत्व का अन्वेषण कर यह संगति देखने में असमथ हैं, वे, महाभारतकार के उपदेश के अनुसार, महाजन जिस रास्ते से जाते हैं उसी को तय करें। उसी में उनका कल्याण निहित है।

:४:

निवृत्ति लक्षण धर्म

पुरुषार्थ चतुष्टय

अपने यहां जीवन के चार लक्ष्य पुरुषार्थ माने गये हैं : (१) धर्म (२) अर्थ (३) काम और (४) मोक्ष। अंतिम लक्ष्य मोक्ष माना गया है। यह स्वाभाविक ही है कि विकसन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में कोई व्यक्ति साधारण स्तर पर खड़ा होकर अपनी वासना पूर्ति का काम पुरुष की प्राप्ति का एवं तदर्थ साधन भूत अर्थ की, जिसमें राजसत्ता आदि अन्य रुचिकर लक्ष्यों का भी समावेश है, प्राप्ति का लक्ष्य अपने सम्मुख रखेगा। कोई विधिनिषेधात्मक धर्म का लक्ष्य अपने सम्मुख रखेगा और दूसरा एकाध कोई शाश्वत् सुख की प्राप्ति के लिए भौतिक सुखों से पराङ्मुख होगा। इन सब भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लोगों में अभेद देखकर एवं उनकी परस्पर-पूरकता को अनुभव कर उन्हें एक समाज सूत्र में गूंथने के लिए, उनमें सामंजस्य निर्माण करने की दृष्टि से एवं उनके भौतिक एवं आत्मिक विकास में सहायक होने की दृष्टि से उनके अधिकार के अनुसार उन्हें उपदेश करने की व्यवस्था धर्म ने की। अर्थात् ऐहिक, पारलौकिक एवं पारमार्थिक सुख की प्राप्ति प्रत्येक को उसकी पात्रता के अनुसार होवे इसके लिए धर्म ने व्यवस्था निर्माण की। इस व्यवस्था का परिशीलन करने पर यह समझ में आयेगा कि अपना धर्म केवल परलोकहितकारक अथवा परमार्थ साधक ही नहीं, अपितु ऐहिक कल्याण के संबंध में भी विचार करता है; इतना ही नहीं इसे स्पष्ट करने के उद्देश्य से कणाद ने धर्म का यह लक्षण बताया है कि 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिसके कारण अभ्युदय सहित निःश्रेयस की सिद्धि होगी वही धर्म है। अभ्युदय माने विधिनिषेधात्मक धर्म एवं उसके द्वारा प्रदत्त व्यवस्था के अनुसार अर्थ एवं काम की प्राप्ति और निःश्रेयस माने मोक्ष। पहले तीन पुरुषार्थों का क्षेत्र ऐहिक जीवन से संबंधित है और चौथा पुरुषार्थ भगवत्प्राप्ति से संबंधित है। इन सबका समावेश धर्म के व्यापक अर्थ में होता है। इस धर्म के अपने यहां मोटे तौर पर दो विभाग किये गये हैं। एक है निवृत्ति लक्षणात्मक और दूसरा है प्रवृत्ति लक्षणात्मक। यथाधिकार मनुष्य को उनमें से एक का अंगीकार करना चाहिए।

ज्ञान योग—निवृत्ति लक्षण धर्म को ज्ञान योग अथवा ज्ञान मार्ग भी कहा गया है। ज्ञान योग का संक्षेप में यह प्रतिपादन है कि परमात्मा अनादि, अनंत, अव्यक्त सत्य है और आनंदमय है और उसका साक्षात्कार या ज्ञान होने से व्यक्ति को—जीवात्मा को—जो वस्तुत: परमात्मा ही है—मुक्ति मिलती है।

इस सृष्टि के प्रारंभ के संबंध में विचार करते हुए छांदोग्योपनिषद् में आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहते हैं कि—

सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसत: सज्जायेत ।। कुतस्तु खलु सौम्यैवं स्यादिति होवाच कथामसत: सज्जायेतेति ।। सत्त्वेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।। ६-२-१ और २

अर्थात् 'हे सौम्य, केवल' सत् (existence) दूसरे के बिना आदि में था। कुछ लोगों का मत है कि केवल असत्—शून्य—(non-existence) दूसरे के बिना आदि में था। उस असत् से सत् उत्पन्न हुआ।। परंतु हे सौम्य, यह इस प्रकार कैसे संभव हो सकता है ? (और पूछा) असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे संभव है ? (और फिर उन्होंने उत्तर दिया) हे सौम्य केवल सत् दूसरे के बिना आदि में था।' कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती और इसलिए असत् प्रारंभ में रह कर सत् की उत्पत्ति संभव नहीं। सत् से ही परमात्मा से ही--यह उत्पत्ति हुई है।' मुंडकोपनिषद् में कहा है कि—

'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधय: संभवंति।
यथा सत: पुरुषात्केश लोमानि
तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ।'

मुंडकोपनिषद् १-१-७

अर्थात् 'जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है और निगल जाती है, जैसे पृथवी में औषधियां उत्पन्न होती हैं और जैसे सजीव पुरुष से केश एवं लोम उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार से उस अक्षर से—परमात्मा से—यह विश्व प्रगट होता है। याने परमात्मा इस भासमान् जगत् का निमित्त कारण (instrumental cause) एवं उत्पादन कारण (material cause) है उसने इसे अपनी माया से सृष्ट शब्द का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में (creation) किया जाता है परंतु वस्तुत: उसका अंग्रेजी में समानार्थी शब्द है (projection)। हवा से जैसे समुद्र में लहरें उत्पन्न होती हैं परंतु वे समुद्र से अभिन्न होती हैं और समुद्र में ही विलीन हो जाती हैं वैसे ही परमात्मा ने अपनी माया से इस भासमान् जगत् को सृष्ट (projection) किया है छांदोग्योपनिषद् में आगे कहा है कि 'तदैक्षत। बहुस्यां प्रजायेयेति।' ६-४-३ और यही विचार तैत्तिरोयोपनिषद् में व्यक्त किया है कि सोऽकाम-

यत। बहुस्यां प्रजायेयेति।' २-६
अर्थात् 'उस परमात्मा ने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊं', याने 'अपने को अनेक नाम रूपों में व्यक्त करूं।' अतः जीवात्मा इस माया से, अज्ञान से ढका हुआ परमात्मा ही है और माया का यह आवरण यदि दूर हुआ तो जीवात्मा अपनी वास्तविकता को समझ सकेगा। अर्थात् अपने शुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्दस्वरूप को समझ सकेगा। छांदोग्योपनिषद् में उपदेश करते हुए आरुणि कहते हैं कि 'तत्वमसि श्वेतकेतो।' ६-१४-३ अर्थात् 'हे श्वेतकेतु, तू वही है—परमात्मा ही है।' और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। छां० ३-१४-१ अर्थात् 'यह सब ब्रह्म ही है।' इस मंत्र में यही विचार व्यक्त किया है। 'सोऽहम्' छां० ७-१६-१ अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' बृहदा० १-४-१० अर्थात् 'मैं परमात्मा हूं' इन मंत्रों में भी यही भाव व्यक्त किया गया है। इससे यह स्पष्ट होगा कि ईसाईयों की जो मान्यता है कि मनुष्य जन्म से ही पापी है उससे हम सहमत नहीं। हमारी यह मान्यता है कि मनुष्य परमात्मा होने से शुद्ध है। श्री विवेकानन्द कहते हैं कि—

"Ye are children of God, the sharers of immortal bliss. Ye divinities on earth, the sinners. It is a sin to call man so. It is a standing libel on human nature."

अर्थात्, 'तुम अमृतानन्द के भागी परमात्मा के पुत्र हो। तुम धरती पर स्थित देवता हो। कौन तुम्हें पापी कहता है। मानव को पापी कहना ही पाप है। मानव-स्वभाव पर चिर (आरोपित) वह एक कलंक है।'

ज्ञानोपासना का साधन

जीवात्मा को 'सोऽहम्' का साक्षात्कार होने के लिए माया का पटल दूर करना होगा। माया का पटल दूर होने के लिए भासमान् जगत् का 'नेति-नेति' बृहदा० २-४-६ कहकर निषेध करना होगा—अर्थात् 'यह दृश्य जगत् सत्तत्व नहीं—यह आकलन करना होगा तब ही सत्य का ग्रहण हो सकेगा; परन्तु मन तथा इन्द्रियों की जो विषयासक्ति रहती है वह उस माया के पटल को दूर नहीं होने देती। याने भासमान् जगत् को सत्य समझने के लिए मोहित करती है। अतः व्यक्ति को शाश्वत सुख की—परमात्मा की—प्राप्ति नहीं होती। इसलिए मनुष्य को अपनी इन्द्रियों को विषयों से दूर रखना चाहिए। परन्तु कर्मेन्द्रियों को विषयों से दूर रखने के पश्चात् भी मनुष्य यदि मन से उन विषयों के उपभोग से प्राप्त होने वाले सुख का चिंतन करता रहा तो भी विषयों के प्रति आसक्ति रहने के कारण मन अस्वस्थ हो उठता है और मन अस्वस्थ रहा तो शांति की—सुख की—अनुभूति कैसे होगी? अतः मन को भी विषयों से पराङ्मुख करने का विधान है तदर्थ वासनाओं का पूर्ण रूप से क्षय होना आवश्यक है। यह तभी संभव है जब

विषयोपभोग से प्राप्त होने वाले सुख की नश्वरता का एवं दुःखपर्यवसायी होने का अनुभव होगा। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'ये हि संस्पर्शजा भोगा
दुःखयोनय एव ते।
आद्यंतवंतः कौंतेय
न तेषु रमते बुधः।।' गीता ५-२२

अर्थात् 'जो संस्पर्शजनित भोग हैं वे दुःखकारक ही हैं। हे अर्जुन उनका प्रारम्भ एवं अन्त होता है। ज्ञानी मनुष्य उसमें रममाण नहीं होता है।' और इसलिए मनुष्य को शाश्वत सुख की ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

अब शाश्वत् सुख का अधिष्ठान क्या है यह भी एक चिंतनीय प्रश्न है। शाश्वत् सुख आत्मनिष्ठ है, बाह्यवस्तुनिष्ठ नहीं है। यह विचार सम्भवतः असत्य लगेगा। परन्तु वही वास्तविकता है। सत्य है। कल्पना कीजिए कि अपने सम्मुख एक रबड़ी से भरा हुआ बर्तन रखा हुआ है। उसमें से एक कटोरी रबड़ी सेवन करने से हमें सुख मिलता है। अतः सामान्यतया यह धारणा रहती है कि सुख देना यह रबड़ी का गुण है। परन्तु यह धारणा सत्य है क्या? यदि हमने तह मे जाकर विचार किया तो हमें दिखाई देगा कि वह उसका धर्म नहीं। गुण तो उसे कहते हैं जो सदैव द्रव्य के साथ रहता है। जैसे दाहकता यह अग्नि का धर्म है और सदैव उसके साथ रहता है। आज उसने दाह दिया और बाद में अथवा कल अथवा परसों नहीं देगा अथवा एक को दग्ध दिया और दूसरे को नहीं किया, ऐसा कभी नहीं हो सकता। इसलिए यह दाहकता यह अग्नि का गुण माना गया है और वह ठीक भी है। परन्तु क्या उसी प्रकार से सुख देना यह रबड़ी का गुण हो सकता है? हम अनुभव करते हैं कि एक-दो अथवा अधिक-से-अधिक तीन कटोरी रबड़ी का सेवन करने तक आनन्द का, सुख का हम अनुभव करेंगे; परन्तु बाद में वह अनुभव नहीं रहेगा। अर्थशास्त्र में इसे ह्रासमान उपयोगिता न्याय (Principle of diminishing utility) कहते हैं। और लगातार चार-छः कटोरी रबड़ी ली तो सम्भवतः कै होगी और दस्त लगेंगे। सुख प्राप्ति तो दूर रही, हम दुःख का अनुभव करेंगे। यदि किसी व्यक्ति को मीठा खाने में रुचि न हो तो रबड़ी के सेवन से उसे सुख प्राप्ति नहीं होगी। और तो और किसी को मीठा खाने में रुचि हो तो भी वह यदि किसी अन्य दुर्घटना के कारण दुःखी हो तो रबड़ी के सेवन से सुख प्राप्त करना उसके लिए संभव नहीं होगा। स्पष्ट है कि सुख देना यह रबड़ी का गुण नहीं, अपितु सुख प्राप्ति अपनी मानसिक अवस्था पर निर्भर करती है। अतः सुख बाह्यवस्तुनिष्ठ नहीं। वह आत्मनिष्ठ है। उसे कैसे प्राप्त करना? आप्तजन कहते हैं कि परमात्मा के—ध्येय के—नित्य चिंतन से वासनाओं का पूर्ण रूप से क्षय करना संभव होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से

कहते हैं कि—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्।' ४-५-६ अर्थात् 'आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिए, मनन करना चाहिए, जानना चाहिए। हे मैत्रेयी, उसे देखने, सुनने, मनन करने एवं जानने पर यह सब समझ में आता है।' इस प्रकार ध्येय के नित्य चिंतन से वासनाओं का क्षय होने पर परमात्मा के साक्षात्कार का अनुपम आनन्द प्राप्त होता है। महाभारतकार कहते हैं कि—

यच्च कामसुखं लोके
यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णा क्षय सुखस्यैते
नार्हतः षोडशीं कलाम्॥ शा० प० म० भा०

अर्थात् 'कामोपभोग द्वारा प्राप्त सुख एवं स्वर्गसुख तृष्णाक्षयसुख के सोलहवें अंश के भी तुल्य नहीं है। याने तृष्णाक्षयसुख की तुलना में वे तुच्छ हैं।' तैत्तिरीयोपनिषद् में इस सुख की अनुभूति का वर्णन करते हुए कहा है कि—

'यतो वाचो निवर्तंते अप्राप्य मनसा सह। आनंदं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।' २-९-१

अर्थात् 'जहां से मन सहित वाणी उसे प्राप्त न करके लौट आती है उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला किसी से भी भयभीत नहीं होता।' मुंडकोपनिषद् में यह व्यक्त किया है कि—

'भिद्यते हृदयग्रंथि-
च्छिद्यंते सर्वसंशयाः।
क्षीयंते चास्य कर्माणि
तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ २-२-८

अर्थात् 'उस परावर (कारण कार्यरूप) ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर इस जीवन की हृदयग्रंथि टूट जाती है—अविद्या वासना नष्ट हो जाती है। संपूर्ण संशय नष्ट हो जाते हैं। पूर्वजन्म में किये हुए और अप्रारब्ध अर्थात् फलोन्मुख न हुए कर्म क्षीण हो जाते हैं।' याने केवल उन कर्मों के फलों का उपभोग करना पड़ता है जिनका फल प्रारम्भ होने के कारण यह शरीर धारण करना पड़ा। शरीर धारण किया हुआ हो तो भी वह व्यक्ति मुक्त रहता है उसे जीवन्मुक्त कहा है। उसका वर्णन करते हुए मुंडकोपनिषद् में कहा है कि—

'यथानद्यः स्यंदमानाः समुद्रे
ऽस्तं गच्छंति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥' ३-२-८

अर्थात् 'जिस प्रकार बहती नदियां अपने नाम एवं रूप को त्याग कर समुद्र में विलीन होती हैं, उसी प्रकार नाम रूप से विमुक्त विद्वान् सर्वश्रेष्ठ दिव्य पुरुष को (परमात्मा को) प्राप्त होता है।' इस उच्चतम स्थिति में प्राप्त आत्मनिष्ठ सुख की कल्पना करना भी अपने जैसे जनसाधारण के लिए असंभव रहता है। फिर अनुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी कारण से उस आनन्द की महत्ता एवं गरिमा को नापने में अक्षम पाश्चात्य लोगों ने आरोप लगाया कि भारतीय दर्शन में निराशावाद (pessimism) छाया हुआ है और परिणामतः कर्म करने की प्रेरणा का अभाव है; क्योंकि आत्मसुखप्रेरित कर्मप्रवृत्ति की कल्पना करने की क्षमता के अभाव में वे सोचते हैं मनुष्य की कर्म करने की प्रवृत्ति केवल विषयोपभोग द्वारा प्राप्त सुख के लिए होती है। हमारी यह मान्यता है, जो सत्य पर आधारित है, कि विषयोपभोग द्वारा जनित सुख-दुःख पर्यवसायी है।

कर्म त्याग अनुचित

अतएव निवृत्ति लक्षण स्वरूप ज्ञानयोग का यह भी अर्थ किया जाता है कि सब कर्मों से मनुष्य को निवृत्त होना चाहिए। परन्तु यह इसका वास्तविक अर्थ नहीं है। सजीव के लिए यह असंभव है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'न हि कश्चित्क्षणमपि
जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म
सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥' गीता ३-५

अर्थात् 'कोई भी (पुरुष) किसी काल में क्षण भर भी बिना कर्म किये रह नहीं सकता। निःसन्देह सब (ही पुरुष) प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।' शरीर यात्रा के लिए मनुष्य को कर्म करने ही पड़ते हैं। अपने लिए जो नियत कर्म हैं, उसमें भले ही दोष हों तो भी उन्हें त्यागना नहीं चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'सहजं कर्म कौंतेय
सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारंभा हि दोषेण
धूमेनाग्निरिवावृताः ॥' गीता १८-४८

अर्थात् 'हे कुंतीपुत्र स्वाभाविक कर्म को चाहे वह दोषयुक्त भी क्यों न हो, त्यागना नहीं चाहिए; क्योंकि धुएं से आवृत अग्नि के समान कर्म भी (किसी-न-किसी) दोष से आवृत हैं।' पुनः इन दोषों के परिणामस्वरूप जो कुफल मनुष्य को भोगने पड़ते हैं उनके परिहार के लिए भगवान् कहते हैं कि—

'यथैधांसि समिद्धोऽग्नि-
र्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि
भस्मसात्कुरुते तथा ।।' गीता ४-३७

अर्थात् 'हे अर्जुन, जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्मसात् कर देता है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्म को भस्मसात् कर देता है। परिणामत: ज्ञानी के कर्म के साथ उसके दोष भी नष्ट हो जाने से उन दोषों के कारण प्राप्त होने वाले भोग भी उसे भुगतने नहीं पड़ते। अत: सहज कर्म के दोषों के बारे में चिंता करने का कोई कारण नहीं।' सार यह कि कर्म करना अपरिहार्य है।

अनधिकार चेष्टा अनुचित

निवृत्ति मार्ग का अधिकार वस्तुत: केवल उन्हीं लोगों को है जो शम, दम, विवेक, वैराग्य, उपरति और तितिक्षा को प्राप्त कर चुके हैं; अत: निवृत्ति मार्ग जनसाधारण के लिए अति दुर्गम है। वह एक ऐसी सीढ़ी है जो एकदम चढ़ जाने की अनधिकार चेष्टा धर्म के संबंध में सम्यग् ज्ञान के अभाववश एवं स्वयं की पात्रता के सम्यग् बोध के अभाववश लोग करते हैं। उसकी परिणति विकृति में होती है और वे निवृत्ति का वास्तविक अर्थ—अर्थात् कर्मेन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करना—न समझकर कर्म से सर्वथा निवृत्त होने का प्रयास करते हैं अथवा निवृत्त होना आवश्यक है, यह प्रतिपादन करते हैं। 'ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्ति होती है' इस तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले पूज्यपाद श्री मदाद्य शंकराचार्यजी के जीवन की ओर दृष्टिक्षेप करने पर हमें दिखाई देगा कि वे अन्त तक कर्ममय रहे। उनके प्रतिपादन में कर्मपराङ्‌मुखता का आग्रह नहीं है। अपने सनत् सुजातीय पर लिखे भाष्य में उन्होंने कहा है कि—

'ज्ञानेनैव मोक्ष: सिद्धयति, किंतु तदेव ज्ञानं सत्वशुद्धिविना नोपपद्यते⋯तस्मात् सत्वशुद्ध्यर्थं सर्वेश्वरमुद्दिश्य सर्वाणि वाङ्‌मन:कायलक्षणानि श्रोतस्मार्तकर्माणि समाचरेत्।'

अर्थात् 'ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्ति होती है; परंतु सत्व शुद्धि बिना वह ज्ञान प्राप्त नहीं होता⋯अत: मनसा, वाचा, कर्मणा श्रुतिस्मृत्युक्त कर्मों को परमात्मा को समर्पण करते हुए व्यक्ति को कर्म करना चाहिए।' कर्तव्य करने की भावना से नहीं किया तो भी स्वांत: सुखाय चित्तशुद्धि के लिए कर्म करना चाहिए। स्पष्ट है कि कर्म से सर्वथा निवृत्ति यह अनधिकार चेष्टा करने वालों की कल्पना मात्र है।

उद्वेगजनित कर्म त्याग

निवृत्ति मार्ग पर आरूढ़ होने की अनधिकार चेष्टा करने वालों की बुद्धि में

कर्मत्याग का जो भ्रम उत्पन्न होता है उसके तीन कारण हो सकते हैं; जिनकी संभवतः उन्हें भी कल्पना नहीं रहती होगी। एक कारण है—उद्वेग। यह भगवत्साक्षात्कार में बाधक रहता है। स्थितप्रज्ञ—ज्ञानी के—लक्षण बताते समय भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः
सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः
स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।' गीता २-५-५६

अर्थात् 'दुःखों की प्राप्ति में जिसका मन उद्वेगरहित है और सुख प्राप्ति में जिसकी स्पृहा दूर हो गयी है तथा जिसके राग, भय, क्रोध नष्ट हो गये हैं ऐसा मुनि स्थिर-बुद्धि कहा जाता है।' स्पष्ट है कि उद्विग्न होकर कर्म त्याग करना यह अनधिकार चेष्टा है।

तामस कर्म त्याग—दूसरा एक कारण रहता है मोह। अधर्म को ही धर्म समझना यह मोह का दार्शनिक अर्थ है। अर्जुन इसी मोह से प्रभावित था और इसलिए अपना स्वभावजनित कर्म त्यागना चाहता था। ऐसे त्याग को भगवान् ने तामस त्याग कहा है। वे कहते हैं कि—

'नियतस्य तु संन्यासः
कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्याग-
स्तामसः परिकीर्तितः ।।' गीता १८-७

अर्थात् 'और (हे अर्जुन) नियत कर्म का त्याग करना योग्य नहीं है (इसलिए) मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है।'

राजस कर्म त्याग—और तीसरा भी एक कारण है। कर्म करते हुए जो कष्ट होते हैं उनके भय से लोग कर्म से निवृत्त होते हैं। उन्हें भी कर्म त्याग का फल प्राप्त नहीं हो सकता। यह कोरा पलायनवाद (escapism) है। भगवान् श्रीकृष्ण ने इसे राजस त्याग कहा है। वे कहते हैं कि—

'दुःखमित्येव यत्कर्म
कायक्लेश भयात् त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं
नैव त्यागफलं लभेत् ।।' गीता १८-८

अर्थात् 'जो (कुछ) कर्म है वह (सब) ही दुःख रूप है ऐसा समझकर शारीरिक क्लेश के भय से जो (कर्मों का) त्याग कर दे वह पुरुष (उस) राजस त्याग को करके भी त्याग के फल को प्राप्त नहीं होता।

सात्विक कर्म त्याग

फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ये कर्मत्याग उद्वेगजनति, तामस अथवा राजस होने के कारण त्याज्य हैं, हेय हैं तो कर्मत्याग यह शब्द एवं विचार कैसे रूढ़ हुआ। परंतु कर्मत्याग का वास्तविक एवं दार्शनिक अर्थ यदि देखा जाय, उसके बारे में ज्ञान प्राप्त किया जाय तो यह प्रश्न उपस्थित होने का कोई कारण नहीं। कर्मत्याग का अर्थ विशद करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'कार्यमित्येव यत्कर्म
नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव
स त्यागः सात्विको मतः।। गीता १८-९

अर्थात् 'हे अर्जुन! कर्म करना कर्त्तव्य है यह अनुभव कर ही जो शास्त्र विधि से नियत किया हुआ कर्त्तव्य कर्म आसक्ति को एवं फल को त्याग कर किया जाता है वह ही सात्विक (कर्म) त्याग माना गया है।' कर्मत्याग के इस लक्षण का यदि सम्यग् बोध हुआ तो ज्ञान मार्ग पर स्थित व्यक्ति को कर्म करना चाहिए, ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी कर्म करना चाहिए, यह स्पष्ट रूप से समझ में आ सकता है।

बोधपूर्वक कर्म त्याग भी कर्म ही है

पुनः बोधपूर्वक कर्म का त्याग करना यह भी आखिर एक कर्म ही है; क्योंकि बोधपूर्वक किये त्याग में अहंभाव का अंश रहता है और इसलिए कर्म से वास्तविक निवृत्ति नहीं हो सकती है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'न कर्मणामनारंभा।
न्नैष्कर्म्यं पुरुषोश्नुते।
न च संन्यसनादेव
सिद्धि समधिगच्छति।।' गीता ३-४

अर्थात् 'मनुष्य न तो कर्मों के न करने से निष्कर्मता को प्राप्त होता है और न कर्मों के त्यागने मात्र से भगवत्साक्षात्काररूप सिद्धि को प्राप्त होता है।' स्पष्ट है कि केवल कर्म त्यागने मात्र से नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं होता है। सूखा पत्ता प्राकृतिक रूप से जैसे वृक्ष से नीचे गिरता है वैसे ही याने उद्वेग अथवा तमोगुण अथवा रजोगुण अथवा अहंभाव से—मैं कर्म का त्याग करता हूं इस भाव से नहीं—अपितु अहंकाररहित होने से स्वाभाविक रूप से कर्म का 'झड़ना' ही कर्म से निवृत्ति मानी जा सकती है। पुनः कहना न होगा कि जब तक अहंभाव है याने 'मैं हूं' यह अनुभव हैतब तक 'मैंने कर्म का त्याग किया' यह प्रतिपादन कृत्रिम होगा। कोरा दंभ होगा।

: ५ :

प्रवृत्ति लक्षण धर्म

प्रवृत्ति मार्ग : (क) सकाम कर्म को मान्यता

धर्म का जो दूसरा लक्षण है प्रवृत्ति रूप उसके भी यथाधिकार मार्गदर्शन के तत्त्व के अनुसार दो अंग हैं। अधिकार के अनुसार जनसाधारण के लिए सर्वप्रथम है सकाम कर्म। मनुष्य की—वस्तुतः समस्त प्राणियों की—कर्म करने के लिए प्रवृत्ति सुखप्राप्ति के लिए होती है। सुख प्राप्ति न होती हो तो कोई भी मनुष्य, और अन्य प्राणी भी, कर्म करने के लिए प्रवृत्त नहीं होते। छांदोग्योपनिषद् में कहा है कि—

'यदा वै सुखं लभते अथ करोति। नासुखं लब्ध्वा करोति।'

७-२२-१

अर्थात् 'सुख प्राप्त होता हो तो (कर्म) करता है और सुख प्राप्त न होता हो तो (कर्म) नहीं करता।' जनसाधारण को सुख-प्राप्ति इंद्रियों द्वारा विषयोपभोग करने से होती है। अतः तदर्थ साधनभूत वस्तुओं का संग्रह करने के लिए अर्थ एवं सत्ता की प्राप्ति की दृष्टि से कर्म करने के लिए मनुष्य प्रवृत्त होता है। विषयोपभोग द्वारा प्राप्त होने वाला सुख, जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं, वस्तुतः क्षणिक एवं दुःख पर्यवसायी रहता है। यों तो यह सुख इसलिए निम्न स्तर का माना गया है। अब इस स्थिति में इसका यदि सर्वथा निषेध किया गया तो साधारण स्तर के लोगों के लिए, जो इसी क्षणिक सुख की ओर आसक्त रहते हैं, कर्म करने की प्रेरणा नहीं रहेगी। यदि वे कर्म से पराङ्मुख हुए तो सारा समाज उत्सन्न होगा और फिर विनास अवश्यंभावी होगा। इन लोगों का, जो इंद्रियजनित सुख की कामना करते हैं, समाज में अत्यधिक अनुपात होता है। पुनः समाज में उनका अपना एक स्थान होता है, प्रतिष्ठा होती है—होनी भी चाहिए—यह विचार धर्माचार्यों ने किया। अतः आचार्यों ने उनके सकाम कर्म की ओर घृणा से नहीं देखा; अपितु उसे भी—उनके सकाम कर्म को भी—मान्यता दी। सकाम कर्म के बारे में आसक्ति न रखने वाले होते हुए भी, इंद्रियजनित सुखार्थ किये गये इन

कर्मों के प्रति घृणा से न देखने वाले इन आचार्यों की प्रशंसा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'न द्वेष्ट्य कुशलं कर्म
कुशले नानुषज्यते।
त्यागी सत्वसमाविष्टो
मेधावी छिन्नसंशयः।। गीता १८-१०

अर्थात् 'जो पुरुष अकल्याणकारक कर्म से द्वेष नहीं करता (और) कल्याणकारक कर्म से आसक्ति नहीं रखता (वह) शुद्ध सत्वगुण से युक्त हुआ पुरुष संशयरहित, ज्ञानी (और) त्यागी है।'

धर्मसम्मत सकाम कर्म एक साधना

अतः आचार्यों ने व्यवस्था दी कि सकाम कर्म धर्मसम्मत है; क्योंकि कामनापूर्ति हो यह जनसाधारण की इच्छा रहती है और वह क्षणिक सुख की कामना ही इन लोगों को कर्म करने की प्रेरणा देती है। और क्योंकि सब विकसनशील हैं अतः उनकी कामनापूर्ति की इच्छा को मान्यता देते हुए उन लोगों का विचार एवं आचार का स्तर उन्नत करने की दृष्टि से आचार्यों ने व्यवस्था दी कि कामनापूर्ति के लिए किया गया वह कर्म धर्मसम्मत रहेगा जो धर्म द्वारा निर्दिष्ट विधिनिषेध की व्थवस्था के अनुसार किया गया हो। अर्थात् दो उद्देश्य : पहला यह कि उनकी कामनापूर्ति हो और दूसरा यह कि कामनापूर्ति के लिए कर्म करते समय उसमें संयम रख कर वे आत्मिक विकास करें। कामनापूर्ति में संयम बरतने की दृष्टि से धर्माचार्यों ने विधिनिषेध के नियम बनाये, उन नियमों की शिक्षा दी और व्यवहार में उन नियमों को उतारने का आग्रह किया। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी इस व्यवस्था को मान्यता दी हुई है। वे कहते हैं कि—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु
कामोऽस्मि भरतर्षभ।' गीता ७-११

अर्थात् '(प्राणियों में) धर्म के अविरुद्ध—धर्म से सुसंगत—जो काम है वह मैं हूं।' स्पष्ट है कि इस जीवन में और भविष्य के जीवन में भी सब प्रकार के भौतिक सुख की प्राप्ति हेतु कर्म करना अपने धर्म को सम्मत है।

धर्म से विसंगत सकाम कर्म का निषेध

धर्म से विसंगत अर्थात् धर्म द्वारा निर्दिष्ट विधिनिषेध की व्यवस्था का उल्लंघन कर यदि स्वकामनापूर्ति के लिए—अर्थ एवं काम की प्राप्ति के लिए—कर्म किया तो वह कर्म व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए अहितकारक होगा। अतः वह अधर्म होगा, आसुरी वृत्ति होगी, जैसा कि चोर, डाकू, परदारागामी,

मिलावट करने वाले अथवा नापतोल में गड़बड़ी करने वाले व्यापारी, स्वार्थ के लिए सार्वजनिक धन का अथवा संपत्ति का उपयोग करने वाले समाज के सब प्रकार के एवं सब स्तर के लोग, घूस लेने वाले कर्मचारी अथवा यथा पारिश्रमिक परिश्रम न करने वाले श्रमिक आदि करते हैं। ये सब प्रवृत्ति एवं निवृत्ति—दोनों स्वरूप के—धर्म को लांघ कर अधर्माचरण करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने इन लोगों को असुर कहा है।

'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च
जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो
न सत्यं तेषु वर्तते ।।' गीता १६-७

अर्थात् 'आसुरी संपत्ति के लोग न प्रवृत्ति लक्षणात्मक धर्म को जानते हैं न निवृत्ति लक्षणात्मक धर्म को जानते हैं। न उनमें शुचिता रहती है, न आचार और न सत्य।' अतः सकाम कर्म पुण्यप्रद होकर व्यक्ति की कामनापूर्ति के साथ उसका आत्मिक विकास हो सके इसलिए यह बंधन आवश्यक है कि धर्म द्वारा निर्दिष्ट व्यवस्था से वह सुसंगत हो। सकामकर्मरूप प्रवृत्ति लक्षणात्मक धर्म के आचरण से इहलोक में अच्छे फल एवं स्वर्गप्राप्ति होती है।

सकाम कर्म के दोष

(१) फल सात है—

परंतु सकाम कर्म के भी कुछ अपने दोष हैं और वे एक विशिष्ट सीमा से आगे व्यक्ति के विकास में बाधक होते हैं। एक दोष यह है कि उसके द्वारा प्राप्त होने वाला फल सात है। अर्थात् उपभोग करने से उस फल का अंत अथवा क्षय होता है। छांदोग्योपनिषद् में कहा है कि—

'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।' ८-१-६

अर्थात् 'जैसा यहां कर्म द्वारा संपादित लोक का याने फल का क्षय होता है वैसा परलोक में पुण्यार्जित लोक का क्षय होता है।' भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि—

'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति।
एवं त्रयीधर्ममनु प्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभंते ।।' गीता ९-२१

अर्थात् 'उस विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर वे लोग मृत्यु लोक को प्राप्त होते हैं; इस प्रकार (स्वर्ग के साधन भूत) तीनों वेदों में कहे हुए सकाम

कर्म के शरण हुए (और) भोगों की कामना करने वाले पुरुष बार-बार आने-जाने को प्राप्त होते हैं।' स्पष्ट है कि सकाम कर्म द्वारा प्राप्त पुण्य का उपभोग से क्षय होता है। हम भी अपने जीवन में अनुभव करते हैं कि अर्जित संपत्ति का उपभोग के कारण क्षय होता है और फिर मनुष्य को दुःख का अनुभव करना पड़ता है।

(२) अविरत कर्म करने की प्रेरणा का अभाव

सकाम कर्म करने से दूसरा भी एक दोष उत्पन्न होता है। सकाम भावना से कर्म में प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति में अविरत कर्म करने की प्रेरणा का अभाव होता है। यदि उसे निकट भविष्य में फल प्राप्ति होती हो तो वह अथक् प्रयास करेगा और निकट भविष्य में फल प्राप्ति की आशा न हो तो कर्म से निवृत्त होगा। जहां कहीं आशुतोष भगवान् श्री शंकरजी का दर्शन कर स्वकामनापूर्ति का चमत्कार लोग अनुभव करते हैं वहां दर्शनार्थियों का तांता लगा रहता है। और शंकरजी के किसी दूसरे मंदिर में, जहां वैसा अनुभव नहीं आता, दर्शन के लिए कोई नहीं जाता। फिर पत्र, पुष्प फल और तोय अर्पण करना दूर ही रहा। वस्तुतः सर्वव्यापी होने के कारण भगवान् का अधिष्ठान तो दूसरे मंदिर में भी है। यही अनुभव सामाजिक कार्यों में भी आता है। सामाजिक कार्य हो, यह इच्छा रहते हुए भी स्वमान की, स्वप्रतिष्ठा की कामना क्षीण भी क्यों न हो—यदि अंतःकरण में हो तो वह यथासमय अंकुरित होकर, पल्लवित और कुसुमित होकर, फल निष्पत्ति के लिए व्यक्ति को कभी कर्म करने के लिए प्रवृत्त करती है, तो कभी फल निष्पत्ति की संभावना कम होने पर उदासीन करती है, तो कभी उसका हेतु न हो तो भी विरोधियों की सहायता करवाती है और कभी-कभी जान बचाकर प्रत्यक्ष विरोध भी करवाती है। उसका भी कारण है। जब प्रतिष्ठा की कामना बलवती होती है, तब किये जाने वाले कार्य को अथवा दिये जाने वाले दान को गौणत्व प्राप्त होता है। अपने हाथों परमार्थ हो, जो दीन हैं, दुखी हैं, रोगी हैं, उन्हें राहत मिले और उनके दुःख का निवारण हो, उसी से मेरी चित्त शुद्धि होकर मेरे लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा यह उद्देश्य गौण हो जाता है। फिर नाम न होता हो—ख्याति न प्राप्त होती हो—तो दान नहीं दूंगा अथवा कम राशि दूंगा ये विचार मन में घर करते हैं। दान देने पर नाम होता हो तो दान के परिणामस्वरूप अपने समाज को हानि हो सकती है इसका भी ख्याति की लालसा में मनुष्य को विस्मरण हो जाता है। इसी कारण से अपने समाज के व्यक्तियों को धर्मांतरित कर उन धर्मांतरितों में अलगाव की भावना निर्माण करने वाले ईसाई मिशनरियों को भी हमारे लोग दान देते हैं और राष्ट्र की सेवा के बहाने राष्ट्र को हानि पहुंचाने वाले राजनीतिक दलों के कार्य लोग करते हैं।

स्वकामनापूर्ति की भावना से आज अपने यहां सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं का साथ देने की जो लोगों की प्रवृत्ति है और उन्हें अमिष बताकर उनकी उस प्रवृत्ति को और अधिक बढ़ाने की सामाजिक और विशेष रूप से राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं की जो नीति है, उसके परिणामस्वरूप न तो उन संस्थाओं की जीवन शक्ति बढ़ती है और न कार्यकर्त्ताओं के अंतःकरण में उस संस्था के अथवा कार्य के प्रति निष्ठा बढ़ती है। परिणामतः कोई भी योजना कृति में परिणत नहीं होती। अतः राष्ट्र को बहुत हानि भुगतनी पड़ती है और कार्यकर्त्ताओं का विकास होना तो दूर रहा, अधःपतन होता है, यह हम सबका अनुभव है। अतः यह स्पष्ट है कि सकाम भावना से किये जाने वाले कर्म में ध्येय की प्राप्ति के लिए अविरत कर्म करने की प्रेरणा का अभाव होता है और कभी-कभी उससे राष्ट्र को हानि होती है।

(३) षड्रिपुओं का जनक

फिर हम यह भी देखते हैं कि जहां कहीं सकाम कर्म करने की प्रवृत्ति रहती है, वहां कामनापूर्ति न होने पर षड्रिपुओं का—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मत्सर का—प्रादुर्भाव होता है और कामनापूर्ति होने पर इन मनोविकारों का क्षय होना दूर रहा, वासनाएं और अधिक प्रबल हो उठती हैं। महाभारतकार कहते हैं कि—

'न जातु कामः कामना-
मुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव
भूय एवाभिवर्धते।।'

अर्थात् 'कामी लोगों का काम उपभोग से शांत नहीं होता। हवि से अग्नि जैसा अधिक प्रबल हो उठता है वैसा काम भी अधिक बढ़ता है।' अतएव मनोविकारों का दमन नहीं होता और मनोविकार मानसिक शांति प्राप्त नहीं होने देते।

(४) तत्त्वग्रहण में बाधक

मानसिक शांति के अभाव में विवेक करने की क्षमता विकसित नहीं होती। परिणामतः योग्य निर्णय करने में सकाम कर्म मार्ग के राही असमर्थ होते हैं। पुनः उनकी चित्त शुद्धि नहीं होती। परिणामतः विचार एवं आचार में न्यूनता उत्पन्न होकर, तत्त्व का सम्यग् ग्रहण करने में बाधा उत्पन्न होकर उनके आत्मिक विकास में कुंठा उत्पन्न होती है। मुंडकोपनिषद् के दो मंत्र इस दृष्टि से बहुत बोधप्रद हैं।

'अविद्यायां बहुधा वर्तमाना
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यंति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयंति रागा-
त्तेनातुराः क्षीण लोकाश्च्यंते ।।' १-२-३

अर्थात् 'बहुधा अविद्या में ही रहने वाले वे मूर्ख लोग 'हम कृतार्थ हो गये हैं' इस प्रकार अभिमान किया करते हैं। क्योंकि कर्मठ लोगों को कर्मफल विषयक राग के कारण तत्त्व ज्ञान नहीं होता, इसलिए वे दुःखार्त होकर (कर्मफल क्षीण होने पर) स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं।' पुनः आगे कहा है कि—

'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयंते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशंति ।।' १-२-१०

अर्थात् 'इष्ट और पूर्त कर्मों को ही सर्वोत्तम मानने वाले वे महामूढ़ किसी अन्य वस्तु को श्रेयस्कर नहीं समझते। वे स्वर्गलोक के उच्च स्थान में अपने कर्मफलों का अनुभव कर इस (मनुष्य) लोक अथवा इससे भी निकृष्ट लोक में प्रवेश करते हैं।'

स्वभावनियत कर्म करने का विधान—यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यद्यपि सकाम कर्म सदोष है तथापि इससे अधिक ऊपर उठने की जिनमें क्षमता नहीं उनके लिए धर्म ने सकाम कर्म का ही विधान किया है। 'अकरणान्मंदकरणं श्रेयः' अर्थात् 'बिलकुल कुछ न करने की अपेक्षा थोड़ा करना अच्छा' इस न्याय से उनके लिए—जनसाधारण के लिए—सकाम कर्म का ही विधान है; क्योंकि जिसे ऊपर उठना संभव न हो—जिसे उच्च स्तर की साधना करना संभव न हो—उसके लिए सकाम कर्म ही प्रेरक रहता है। अतः वह एक अपरिहार्य सीढ़ी है, फिर भले ही उसमें दोष हों। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'श्रेवास्वधर्मो विगुणः
परधर्मात् वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म
कुर्वन्नाप्नोति कल्बिषम् ।।' गीता, १८-४७

अर्थात् 'अच्छी प्रकार से आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, (क्योंकि) स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्म रूप कर्म को करता हुआ (मनुष्य) पाप को नहीं प्राप्त होता।' परंतु अपने लिए विहित सकाम कर्म करते हुए उस व्यक्ति को अधिक पात्रता प्राप्त करने का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए ताकि ऊंचे स्तर की साधना कर वह अपना आत्मिक विकास कर सके।

निवृत्ति एवं प्रवृत्ति के समन्वय की आवश्यकता

उपरिनिर्दिष्ट विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञानयोग का--अर्थात् भासमान् जगत् का 'नेति-नेति' कहकर निषेध कर याने उसे असत्य अनुभव कर, एवं मन सहित सब इंद्रियों का दमन कर सत्य को साक्षात् करते हुए मुक्ति प्राप्त करा देने वाला निवृत्ति का—मार्ग जनसाधारण के लिए असंभव है अतएव उनके लिए दंभजनक एवं अव्यवहार्य है और जिससे कर्म करने की प्रेरणा जनसाधारण को मिलती है वह सकाम कर्म का मार्ग सदोष है। अतः जनसाधारण से और अधिक अधिकार प्राप्त किये लोगों के लिए उनके आत्मा का अधिकतर विकास करने के लिए ऐसी कोई व्यवस्था आवश्यक है जो इन दोनों एकांतिकाओं में संतुलन कर सके ताकि वह व्यवहार्य हो और मनुष्य को परमात्मा की ओर ले जाने में सहायक हो अर्थात् मुक्तिदायक हो—याने विषयों से इद्रियों की निवृत्ति कर मनोविकारों का दमन किया जा सके और साथ ही कर्म करने के लिए प्रवृत्ति भी रहे। अर्थात् निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति भी रहे। उस दृष्टि से प्रवृत्ति लक्षणात्मक धर्म के दो मार्ग निर्दिष्ट किये गये हैं।

(ख) (१) भक्ति योग

उनमें एक है भक्तियोग का मार्ग। भक्ति यह भाववाचक शब्द भज् धातु से बना हुआ है जिसका अर्थ है सेवा करना अर्थात् भगवान् की सेवा करना। भक्ति की व्याख्या करते हुए नारदीय भक्ति सूत्र में कहा है कि 'सात्वस्मिन् परम-प्रेमरूपा।' अर्थात् वह भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूप है। जो दृश्य जगत् है उसे ही परमात्मा का शरीर मानकर उसे अनन्य भाव से प्रणाम करना अर्थात् उसकी सेवा करना। श्रीमद्‌भागवत् में कहा है कि—

'खं वायुमग्निं सलिलं महींच
ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः।।'

अर्थात् 'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, ग्रह, तारे, प्राणिवर्ग, दिशाएं, वृक्षादि, वनस्पतियां, नदियां, समुद्रादि (जो कुछ दृश्य जगत् हैं, उन्हें भगवान् का शरीर है (इसी भाव से देखना) और उन्हें अनन्य भाव से प्रणाम करना।

भक्ति के दो प्रकार हैं : (१) सकाम और (२) निष्काम। सकाम भक्ति में व्यक्ति अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए याचना करता है। यह प्रकार निम्न कोटि का माना गया है। निष्काम भक्ति में भक्त का भगवान् के प्रति निरपवाद समर्पण अपेक्षित है। निष्काम भक्त की मानसिक अवस्था का एक सुन्दर वर्णन

है कि—

'नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद् भाव्यं तद् भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत्प्रार्थ्यं मम बहुतमं जन्मजन्मांतरेऽपि
त्वत्पादांभोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥'

अर्थात् 'न मुझे धर्म के प्रति आस्था है, न धनसंग्रह के प्रति और न कामोपभोग के प्रति आस्था है। जो कुछ भविष्य में होने वाला है वह, हे भगवान् (मेरे द्वारा कृत) पूर्वकर्म के अनुरूप होवे (मुझे उसकी चिंता नहीं) (परंतु) मुझे बहुत प्रार्थना करनी है कि जन्मजन्मांतर में भी तेरे चरण कमल द्वय के प्रति मेरे अंतःकरण में निश्चल भक्ति रहे। इस योग में परमात्मा को निर्गुण निराकार नहीं समझा जाता अपितु उसे कृपालु देवता के रूप में देखा जाता है जो हमारी श्रद्धा, प्रेम, आदर तथा पूजा का विषय रहता है। वह हमारी प्रेरणा का स्रोत भी रहता है। अतः कहा है कि—

'द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक्
जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैत-
द्वैतादपि सुंदरम्॥'

अर्थात् 'बोध के पूर्व द्वैत मोह उत्पन्न करता है। परंतु जब मनीषा से बोध हो जाता है तब भक्ति के लिए कल्पित द्वैत, अद्वैत से भी अधिक सुन्दर लगता है।

भक्ति के लक्षणों का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि—

'अद्वेष्टा सर्व भूतानां
मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः
समदुःखसुखः क्षमी॥' गीता १२-१३

अर्थात् 'सब भूतों से द्वेषभावरहित (एवं) स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतु-रहित दयाल है (तथा) ममता से रहित (एवं) अहंकार से रहित, सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम (और) क्षमावान् है याने अपराध करने वालों को भी अभय देता है।'

'संतुष्टः सतत् योगी
यतात्मा दृढ निश्चयः।
मध्यर्पितमनोबुद्धि-
र्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥' गीता १२-१४

अर्थात् '(तथा) जो ध्यान में युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानि में संतुष्ट है (तथा) मन एवं इंद्रियों सहित शरीर वश में किये दृढ़ निश्चय वाला है वह मेरे में अर्पण किये हुए मन एवं बुद्धि वाला भक्त मेरे लिए प्रिय है।

भक्ति योग के साधन

ये संस्कार अपने मन पर करने के लिए साधनाएं बतायी गयी हैं। उनमें अधिकार के अनुसार नवविधा भक्ति का उपदेश किया हुआ है।

'श्रवणं कीर्तनं विष्णो:
स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं
सख्यमात्मनिवेदनम् ॥'

अर्थात् 'भगवान का (भगवद्गुणों का) श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन (समर्पण) ये उसके नौ प्रकार हैं। श्रवण यह पहली सीढ़ी है और आत्मनिवेदन यह अंतिम।

भक्तों के चार वर्ग

भक्तों की मानसिक अवस्था के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ने भक्तों के चार वर्ग बताये हैं—

'चतुर्विधा भजंते मां
जना: सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी
ज्ञानी च भरतर्ष भ ॥' गीता ७-१६

अर्थात् 'हे अर्जुन ! सुकृती जन मुझे चार प्रकार से भजते हैं : (१) आर्त (२) जिज्ञासु (३) अर्थार्थी और (४) ज्ञानी। आगे यद्यपि इन चारों प्रकार के भक्तों को उन्होंने 'उदारा: सर्व एवैते' अर्थात् सबको उदार कहा है तथापि 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' अर्थाथ् ज्ञानी (तो साक्षात्) मेरा स्वरूप ही है (ऐसा) मेरा मत है' यह कहकर उन्होंने ज्ञानी को सर्वश्रेष्ठ बताया है। ज्ञानी भक्त में आत्मौपम्य बुद्धि, निरपेक्ष भक्ति की भावना एवं आत्मनिवेदन की समर्पण की भावना होने से वह नित्ययुक्त रहता है। अत: सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् कहते हैं कि 'मैं वेद, तप, दान अथवा यज्ञ द्वारा साक्षात् नहीं किया जा सकता परन्तु—

'भक्त्या त्वनन्यया शक्य
अहमेवंबिधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन
प्रवेष्टुं च परंतप ॥' गीता ११-५४

अर्थात् 'हे अर्जुन ! अनन्य भक्ति करके तो इस चतुर्भुज वाला मैं प्रत्यक्ष देखने के लिए, तत्त्व से जानने के लिए तथा प्रवेश करने के लिए अर्थात् एकी भाव से प्राप्त होने के लिए शक्य हूं।'

'मत्कर्मकृन्मत्परमो
मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु,
यः स मामेति पांडव ।।' गीता ११-५५

अर्थात् 'हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिए यज्ञ, दान, तप, आदि संपूर्ण कर्त्तव्यों को करने वाला है, मेरे परायण हैं अर्थात् मेरे को परमाश्रय एवं परमगति मानकर, मेरी प्राप्ति के लिए [तत्पर है, मेरा भक्त है, संगरहित है, सर्व प्राणियों के प्रति वैर-भावरहित है, वह मेरे को ही प्राप्त होता है।

कर्म त्याग अनुचित

वस्तुतः समाज भी परमात्मा के सगुण रूप का एक अंश ही है। अतः सामाजिक अनेक विध सेवा कार्यों से—कर्त्तव्यों से—निवृत्ति का भक्तियोग में भी विधान नहीं है। अपितु इन कार्यों में प्रवृत्ति का विधान है। इसलिए 'सर्वभूतहिते रताः' गीता० १२-४ अर्थात् 'सर्वभूतों के—प्राणियों के—हित में तत्पर' यह विशेषण भगवान् ने भक्तों को लगाया है। पुनः आखिर भगवान् ने भी इसी हेतु अवतार लेकर समाज सेवा की है। परन्तु जैसी ज्ञान योग के सम्बन्ध में विकृत धारणा के परिणामस्वरूप ज्ञानमार्गगामी लोग कर्म से निवृत्त होते हुए दिखते हैं उसी प्रकार से सामाजिक कर्त्तव्यों से विमुख होते हुए इस मार्ग के अनुगामी भी दिखते हैं। सामाजिक अथवा धार्मिक कार्यों में उनके जो सहयोगी रहते हैं, उन सहयोगियों से प्रायः विचार मतभेद होने से अथवा उन लोगों के आचरण से रुष्ट अथवा उद्विग्न होकर भक्त लोग कर्म से निवृत्त होते हैं। परन्तु यह उद्वेग भी भगवत्प्राप्ति में बाधक होता है। उद्वेगरहित होना भक्त के लिए आवश्यक बताया गया है। भगवान् कहते हैं कि—

यस्मान्नोद्विजते लोको
लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयो द्वेगै
मुक्तो यः स च मे प्रियः।। गीता १२-१५

अर्थात् 'जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो(स्वयं भी) किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होगा तथा जो हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग से मुक्त है, वह मुझको प्रिय है।' स्पष्ट है कि उद्विग्न होकर कर्म त्यागना अनुचित है। भक्त के लिए तामस एवं राजस कर्मत्याग भी अनुचित है। परन्तु अपना यह नित्य का अनुभव है कि इस प्रकार कर्म त्याग कर केवल भगवच्चरित्र का श्रवण-कीर्तन आदि करने तक ही लोग अपने कर्मों का कार्यक्षेत्र मर्यादित कर लेते हैं। वस्तुतः श्रवण-कीर्तनादि नवविधा भक्ति की साधना अपने मन पर तदनुसार

संस्कार कर लेने के लिए और परिणामतः अपने भी आचरण को भगवान् जैसा कर्मनिष्ठ एवं परोपकारी बनाने के लिए आवश्यक है। इस आचरण को निःसंदिग्ध रूप से स्पष्ट करने वाली दो भगवदुक्तियां प्रसिद्ध हैं। उनका इस दृष्टि से विचार करना उचित होगा। भगवान् कहते हैं कि—

'परित्राणाय साधूनां
विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय
संभवामि युगे युगे ।।' गीता ४-८

अर्थात् 'साधु पुरुषों का रक्षण करने के लिए और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिए (तथा) धर्म स्थापन करने के लिए (मैं) युग-युग में प्रकट होता हूं।' दूसरी उक्ति यह है कि—

'न त्वहं कामये राज्यं
न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां
प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।'

अर्थात् 'न मुझे राज्य की कामना, न स्वर्ग की और न मोक्ष की। दुःख तप्त प्राणियों के दुःख का नाश हो (यही) मैं कामना करता हूं।' परन्तु भगवान् के चरित्र के इस पहलू की ओर भक्ति मार्ग पर आरूढ़ अधिकांश लोगों का दुर्लक्ष होता हुआ दिखता है और पुरातन समय में भी होता होगा ऐसा दिखता है। अतः प्राणिमात्र का कल्याण यह उद्देश्य भक्तों के नित्य स्मरण में रहे और तदर्थ वे प्रयास करें, इस कर्त्तव्य से वे विमुख न हों, यह भागवतकार को भी स्मरण दिलाना पड़ा। इस विचार से, भगवद्भक्ति की इस मौलिक व्यवस्था से, भक्त भ्रष्ट न हो इसलिए भागवत में निःसंदिग्ध शब्दों में भगवान् के विचार उद्धृत किये हैं कि—

'यो मां सर्वेषु भूतेषु
संतमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्
भस्मन्येव जुहोति सः ।।

अर्थात् 'समस्त भूतों में—प्राणियों में—स्थित मुझ ईश्वर को छोड़कर (दुर्लक्षित कर) जो मूर्खतावश पूजा आदि विधि में मग्न हैं वह (अग्नि को छोड़कर) भस्म में ही आहुति प्रदान करता है।' पुनः यह भी कहा है कि—

'स्वधर्मकर्मविमुखाः
कृष्ण कृष्णेतिवादनः।
ते हरेर्द्वेषिणो मूढाः
धर्मार्थं जन्म यद्धरेः ।।'

अर्थात् 'अपने धर्म कर्म से—कर्तव्य से विमुख होकर जो केवल कृष्ण-कृष्ण यह जप करते हैं, वे मूर्ख हरि के शत्रु हैं; क्योंकि स्वयं भगवान् का जन्म धर्म के लिए है।' यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि इन श्लोकों में पूजा अर्चना अथवा नाम स्मरण का निषेध अभिप्रेत नहीं है; परंतु भूत मात्र की सेवा की और दुर्लक्ष कर पूजा अर्चना अथवा नामकरण करना निरर्थक होगा—बेकार होगा—यह कहने का उद्देश्य है। पुनः प्राणिमात्र की सेवा भी भगवत्पूजा ही है—

'तप्यंते लोकतापेन
प्रायशः साधवे जनाः।
परमाराधनं तद्धि
पुरुषस्याखिलात्मनः ॥'

अर्थात् 'लोगों के दुःख से प्रायः साधुजन दुःखी होते हैं; क्योंकि विश्वात्म पुरुष की (परमात्मा की) वह आराधना ही है।

अर्जुन को दिया गया उपदेश भी भगवान् के कर्म प्रेरणा के इस उद्देश्य को स्पष्ट करता है। यह सर्वविदित है कि अर्जुन की भगवद्भक्ति बहुत उच्च श्रेणी की—उपांत्य श्रेणी की—याने सख्य श्रेणी की थी और बाद में वह आत्म-निवेदन की—समर्पण की चरम श्रेणी में परिणत हुई। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने 'भक्तोऽसि में सखा चेति' गीता ४-३ और 'इष्टोऽसि में दृढ़ मिति' गीता १८-६४ कहकर अपने अंतःकरण में अर्जुन के प्रति जो आत्मीयता है, उसे व्यक्त किया है। उसे भी उन्होंने स्वभावजनित कर्म करने का—उस प्रसंग के अनुसार युद्ध करने का—उपदेश देकर अंत में कहा है कि—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य
मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो
मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥' गीता १८-६६

अर्थात् 'सब धर्मों का—पाप-पुण्य के विचारों का—परित्याग कर मुझ एक की शरण आ। मैं तुझे सर्व पापों से मुक्त करूंगा।' यह आश्वासन दिया है। अर्थात् यह स्पष्ट है कि उसके जैसे परम भक्त से भी उन्होंने कर्म करने का आग्रह किया है।

ज्ञान-योग और कर्म-योग की अपेक्षा भक्ति-योग अधिक सुगम है ऐसी कल्पना कर लोग उसके अनुगामी होते हैं और सोचते हैं कि इस मार्ग का अनुसरण करने से भगवत्प्राप्ति सरलता से हो जायेगी। परन्तु यह भ्रम है। वस्तुतः भक्ति-योग सब में कठिनतम है। सख्य भक्ति यह भक्ति की उपांत्य श्रेणी है। उसी के सम्बन्ध में श्री समर्थ रामदास ने कहा है कि—

'देवाच्या सख्यत्वासाठी
पडाव्या जिवलगांच्या तुटी।
सर्वस्य अर्पावे सेवटी
प्राण तोही वेचावा।

अर्थात् 'भगवान के सख्य के लिए
आत्मीयों का विरह पड़े,
सर्वस्व अर्पण करते हुए
अंत में प्राण भी देना पड़े।

इस सख्य भाव से भी ऊंची श्रेणी आत्मनिवेदन की—निरपवाद की है। वह पराकाष्ठा है और तभी भगवत्प्राप्ति होती है। और यह आत्मसमर्पण होने पर मनुष्य के हाथों केवल—उचित कर्म ही स्वाभाविक रूप से होगा। इसी अनुभूति को संत तुकाराम ने अपने अभंग में बहुत भावपूर्ण शब्दों में किया है। वे कहते हैं कि—

'जेथे जातो तेथे। तू माझा सांगाती।
चालविसी हाती। धरुनिया।।'

अर्थात् 'जहां जाता हूं वहां,
तू मेरा साथी है
हाथ में (उंगली) पकड़कर,
मुझे तू चलाता है।'

इसी भाव को अपने उपदेश में स्पष्ट करते हुए भगवान् रामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि बालक यदि माता का हाथ पकड़कर चलता है तो उसे गिरने का भय रहता है। परन्तु वह यदि अपना हाथ माता के हाथ में देता है तो माता उसे संभाल लेती है। उसी प्रकार हमने यदि अपना हाथ भगवान् के हाथ में दिया अर्थात् निरपवाद समर्पण किया तो गिरने का भय नहीं रहता याने गलत काम हाथ से नहीं होते। परन्तु बाल (मूर्ख) जैसे अपने गुण एवं उनके कारण प्राप्त विशेषता का तान, अपने अवगुण एवं उनका ज्ञान होने पर भी अपनी यथास्थिति-प्रियता, अपने पूर्वग्रहदूषित मत एवं उनके संबंध में अपना अभिनिवेश, अपनी सूक्ष्म अभिलाषाएं एवं उनकी पूर्ति के लिए सैद्धांतिक आवरण में तर्क शुद्ध समर्थन करने की अपनी प्रवृत्ति तथा अपना अहंकार एवं मैं कर्म का कर्ता हूं यह उससे जन्मा अभिमान और उन्माद, निरपवाद समर्पण में बाधक होते हैं। परिणामतः आज हम यह अनुभव करते हैं कि भक्ति के ठीक-ठीक अर्थ का ग्रहण न करते हुए लोग अपनी 'सुविधा' का अर्थ लगाकर केवल भगद्गुण कीर्तन करते हैं और समाज के प्रति जो दायित्व रहते हैं; कर्तव्य रहते हैं, उनसे विमुख होते हैं। फिर अपने मन को बहलाने के लिए, अपनी अकर्मण्यता का समर्थन करते हुए समर्पण

भाव का दंभ प्रदर्शित करते हैं कि आखिर सब कुछ परमात्मा की योजनानुसार ही होने वाला है, हमारे कर्म करने से क्या होगा ? गोस्वामी तुलसीदासजी का वचन उद्धृत करते हैं कि 'होइहै सोइ जो राम रचि राखा।' परंतु यह अति दुष्ट तर्क है। कोरी आत्मवंचना है। यथार्थ समर्पण भाव से युक्त होकर कोई व्यक्ति सामाजिक एवं स्वीय कार्यों से भगवान् पर श्रद्धा रखकर यदि निवृत्त होता है तो कोई भी व्यक्ति उसके चरण स्पर्श करेगा; तथापि इस प्रकार समर्पण करने वाले व्यक्ति को भी भगवान् समाज का कार्य करने को प्रेरित करेंगे और वह भी लोकसंग्रह के लिए कर्म करेगा। परंतु अधिकतर हम यह अनुभव करते हैं कि समर्पण भाव का इस प्रकार प्रतिपादन करने वाले व्यक्ति जहां तक सामाजिक कार्यों का प्रश्न है, उन्हें भगवान् पर छोड़ने के लिए तैयार होते हैं; परंतु जहां कहीं उनके व्यक्तिगत जीवन की समस्या सामने आती है वहां उसे सुलझाने के लिए तुरंत उद्यत होते हैं। उस स्थिति में वह निज कार्य भगवान् भरोसे छोड़ने के लिए वे तैयार नहीं होते। तब उनका भगवान् पर भरोसा नहीं रहता। यदि कार्य भगवान् भरोसे छोड़ना ही है तो वस्तुतः मनुष्य को अपना व्यक्तिगत कार्य उसे सौंपना चाहिए और समाज का कार्य अपनी सत्व-शुद्धि के लिए साधना समझकर निरपेक्ष भाव से करना चाहिए। समाज के प्रति अपने कर्तव्यों से विमुख होकर उन्हें भगवान् भरोसे छोड़ना और स्वीय कार्य करते समय, उसे स्वयं करना यह कोरी आत्मवंचना है। कोरा दंभ है। अपनी सुविधा के लिए किया हुआ अति दुष्ट तर्क है। अतः भक्तियोग के मार्ग पर प्रस्थित व्यक्ति से यह अपेक्षा है कि पूर्ण रूप से निरभिलाष बनकर निरपवाद समर्पण करें और निरपवाद समर्पण करने पर परमात्मा उसे समाज के प्रति कर्तव्य करने की ही प्रेरणा देंगे। स्वयं भगवान् ने भी अवतार लेकर वही किया है। श्री संत ज्ञानेश्वर, जिनके दर्शन में भक्ति ही प्रधान है, अपनी गीता पर लिखित टीका 'ज्ञानेश्वरी' में कहते हैं कि—

'आणि होगा सव्यसांची,
मूर्ति लाहानि देहाची।
संत करिती कर्माची
गांवढेगा।।' ज्ञा० १८-२१८

अर्थात् 'देह प्राप्त होने पर
जो कर्म करने में अलसाते हैं।
हे अर्जुन। (तुम्हें बताता हूं)
वे मूर्ख ही रहते हैं।।

आगे कर्म का प्रतिपादन करते हुए वे पुनः प्रतिपादन करते हैं कि—

'तैसा शरीराचेनि आभासे
नांदतु जव असे।

कर्म त्यागाचे पिसे।
काई सेतरी ।।' ज्ञा० १८-२२२

अर्थात् 'जब तक देह की अवस्था में
(मनुष्य) जीवित रहता है।
तब तक कर्म के त्याग का
पागलपन (बहुत) बेढब है।।

स्पष्ट है कि भक्ति मार्ग पर प्रस्थित व्यक्ति के लिए समाज कल्याण के लिए कर्म करना आवश्यक है। उसके आत्मिक विकास के लिए वह अपरिहार्य है।

(ख) (२) कर्म योग

अब हम प्रवृत्ति लक्षण धर्म के दूसरे प्रकार का विचार करेंगे। इसे कर्मयोग कहा गया है। ईशावास्योपनिषद् में एक मंत्र है कि—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि
जिजीविषेच्छतँ् समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति
न कर्म लिप्यते नरे ।।' ई० उ० २

अर्थात् 'इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करें। इस प्रकार मनुष्यत्व का अभिमान रखने वाले तेरे लिए इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है, जिससे तुझे अशुभ कर्म का लेप न हो।'

कर्मफल का परिहार—अब कर्मों के शुभाशुभ फलों का लेप न हो यह कैसे संभव है ? हम इसके पूर्व प्रकरण दो में कर्मवाद का सिद्धांत पढ़ चुके हैं कि प्रत्येक कर्म का—चाहे वह सत्कर्म हो अथवा दूषित कर्म हो—हमें फल भोगना पड़ता है। अतः यह स्पष्ट है कि यदि इस जीवन में हमें उन कर्मों के सुफलों को अथवा कुफलों को भोगने का अवसर न मिला तो हमें पुनः जन्म लेना पड़ेगा याने दुष्कर्मों के कुफलों को भोगने के लिए जन्म लेना जैसा अपरिहार्य है वैसा ही पुण्य प्राप्ति की भावना से किये गये सत्कर्मों के सुफलों को भोगने के लिए भी पुनर्जन्म लेना अपरिहार्य है। फिर हमें सत्कर्म करने से जन्मबंध से मुक्ति कैसे मिलेगी, यह प्रश्न उपस्थित होता है। मुक्ति याने न केवल अपने नाम एवं रूप से मुक्ति अपितु अपने अहंभाव, बल, घमंड, काम, क्रोध, परिग्रह, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख एवं पुनर्जन्म से भी मुक्ति याने परमात्मा में नित्य स्थिति अथवा—ब्राह्मणी स्थिति। इस संबंध में चिंतन करने पर अपने आचार्यों को यह साक्षात्कार हुआ कि कर्म करते समय यदि आसक्ति न हो, कर्म के कर्तुत्व का अभिमान न हो और सर्वकर्म फलत्याग की भावना से परमात्मा का नित्य चिन्तन करते हुए वह फल उसे अर्पण किया जाय तो वह कर्म बंधनकारक नहीं होता। इसे कर्मयोग कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्ण

ने सुस्पष्ट रूप से इसका प्रतिपादन किया है और अपने आचरण में उतारा है। इसके चार बंधक हैं—

पहला बंधक—पहला बंधक यह है कि विषयों से इंद्रियों को सर्वथा निवृत्त करो अथवा न करो परन्तु विषयों के प्रति अनासक्त रहना, तथापि आसक्ति युक्त मनुष्य जितने चाव से कर्म करता है उतनी ही लगन से कर्म करना। भगवान् कहते हैं कि—

'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो
यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्त-
श्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥' गीता ३-२५

अर्थात् 'हे भारत कर्म का आसक्त हुए अज्ञानी जन जैसे कर्म करते हैं वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान् लोकशिक्षा को चाहता हुआ कर्म करें।'

दूसरा बंधक—दूसरा बंधक यह है कि कर्तुत्व का अभिमान नहीं रखना अपितु मैं केवल निमित्त मात्र हूं और प्रकृति ही अपनी क्रियाएं करती रहती हैं वह अनुभव करना। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'प्रकृतेः क्रियमाणानि
गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा
कर्ताहमिति मन्यते ॥' गीता ३-२७

अर्थात् 'संपूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं (तो भी) अहंकार से जिसका अंतःकरण मोहित हो जाता है वह पुरुष, मैं कर्ता हूं, ऐसा मान लेता है।'

'तत्ववित्तु महा वाहो
गुण कर्म विभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तते
इति मत्वा न सज्जते ॥' गीता ३-२८

अर्थात् 'परंतु हे महावाहो गुण विभाग और कर्मविभाग के (पंचमहाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार तथा पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय और शब्दादि विषय इन सबके समुदाय का नाम, गुण, विभाग और इनकी परस्पर चेष्टाओं का नाम कर्म विभाग है।) तत्त्व को जानने वाला (ज्ञानी पुरुष) संपूर्ण गुणों अवगुणों में वर्तते हैं, ऐसे मानकर आसक्त नहीं होता है।' याने यह अनुभव करना कि मैं कर्ता नहीं अपितु सर्वसाक्षी अक्षर परमात्मा हूं और यह कर्म क्षर प्रकृति द्वारा किया जाता है।

तीसरा बंधक—तीसरा बंधक यह है कि फलासक्ति न रखकर तथा किसी के प्रति द्वेष अथवा मत्सर न रखकर अपने स्वभाव के अनुसार प्राप्त धर्म के नाते सर्वकर्मफल त्यागपूर्वक ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करना फिर भले ही वह जैसा कि

गीता में वर्णित प्रसंग है युद्ध करने का भी कर्म क्यों न हो। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'यत्करोषि यदश्नासि
यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौंतेय
तत्कुरुष्व मदर्पणम्' । गीता ९-२७

अर्थात् 'हे अर्जुन (तू) जो (कर्म) करता है, जो (कुछ) खाता है, जो (कुछ) हवन करता है जो (कुछ) दान देता है, (और) जो (कुछ) स्वधर्माचरणरूप तप करता है, वह (सब) मेरे अर्पण कर'।

'शुभाशुभ फलैरेवं
मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः।
संन्यासयोग युक्तात्मा ॥
विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ गीता ९-२८

अर्थात् 'इस प्रकार कर्मों को मेरे अर्पण करने रूप संन्यास योग से मुक्त हुए मन-वाला (तू) शुभाशुभ फलरूप कर्मबंधन से मुक्त हो जायेगा (और उनसे) मुक्त हुआ मेरे को ही प्राप्त होवेगा।

चौथा बंधक—चौथा बंधक यह है कि सदैव परमात्मा में अपना चित्त विलीन करना। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

चेतसा सर्वकर्माणि
मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धि योग मुपाश्रित्य
मच्चितः सततं भव ॥' गीता १८-५७

अर्थात् 'सब कर्मों को मन से मेरे में अर्पण करते हुए याने कर्मों के फलों को एवं कर्तृत्व को त्यागते हुए मेरे परायण हुआ, समत्वबुद्धि रूप निष्काम कर्म का अव-लंबन करके निरंतर मेरे में चित्तवाला हो।'

परिणाम—इस प्रकार अनासक्ति से कर्म करने से अविरत कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। कर्तृत्व का त्याग करने से अहंभाव का लोप होता है। ईश्वरार्पण की भावना से कर्म करने से सर्वकर्मफलत्याग होकर कर्म का लेप नहीं होता और परमात्मा में मन एकाग्र करने से चित्तवृत्ति का लय होता है। और कर्मफलत्याग भी अर्थहीन हो जाता है। इन सबके परिणाम-स्वरूप कर्मयोगी ममता को त्यागता है और लाभ और हानि, जय और पराजय सुख और दुःख सब प्रकार की इष्टा-निष्ट फलप्राप्ति होने पर भी षड्रिपुओं का दमन होकर अंतःकरण अविचल रहता है। फलतः सतत परमात्मा में अधिष्ठित होने से मुक्ति मिलती है। कहना न होगा कि अंतःकरण की अविचलता योग्य निर्णय लेने में सहायक भी होती हैं।

विधि निषेध व्यवस्था का उल्लंघन असम्मत—कुछ लोग अपने निषिद्ध कृत्यों का समर्थन करने के लिए यह अर्थांतरण करते हैं कि गीता के अनुसार विधिनिषेध का कोई बंधन नहीं है। केवल निष्काम भाव से कर्म करना गीता को मान्य है। वस्तुतः इससे अधिक विकृत व्याख्या नहीं की जा सकती। फिर प्रश्न उठता है कि जिसमें हिंसा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है वह युद्ध करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से क्यों कहा ? उसका कारण यह है कि तब शुभाशुभ कर्म करने का निषेध नहीं है जब वह स्वभावजनित कर्म है, अनासक्ति से किया जाता है एवं कर्तृत्व का अभिमान त्याग कर, सर्वकर्मफलत्याग करते हुए और नित्य परमात्मा में मन एकाग्र करते हुए किया जाता है। कहना न होगा कि जन-साधारण इन बंधकों को पूर्ण करने में सर्वथा असमर्थ होता है। अतः उनके लिए विधिनिषेध व्यवस्था आवश्यक है। उस व्यवस्था का उल्लंघन करने पर उसके भयंकर परिणाम होंगे। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि व्यवस्था का उल्लंघन करने वाले लोग मुझे न प्राप्त करते हुए अधम गति को जाते हैं। वे कहते हैं कि—

'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च
जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो
न सत्यं तेषु विद्यते॥' गीता १६-७

अर्थात् 'आसुरी संपत्ति के लोग न प्रवृत्ति लक्षणात्मक धर्म को जानते हैं न निवृत्ति लक्षणात्मक धर्म को जानते हैं। न उनमें शुचिता रहती है, न आचार और न सत्य।' सइ प्रकार आसुरी संपत्ति का वर्णन करते हुए अंत में कहते हैं कि—

'मामप्राप्यैव कौंतेय
ततो यांत्यधमां गीतम् ॥' गीता १६-२०

अर्थात् 'हे अर्जुन, मुझे बिना प्राप्त किये (आसुरी संपत्ति वाले) अधम गति को प्राप्त होते हैं।

इस सब का सार यह है कि जनसाधारण को विधिनिषेध की व्यवस्था का उल्लंघन न करते हुए कर्मयोग का मार्ग अपनाकर अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करते हुए ऊपर लिखे बंधकों को जीवन में उतारने का प्रयास अधिकाधिक मात्रा में करते जाना चाहिए ताकि वह अपेक्षित स्थिति को पहुंच सके।

कर्मयोग एक स्वयंपूर्ण दर्शन—ज्ञानयोग का एकांतिक तथा साग्रह प्रतिपादन करने वाले दार्शनिकों ने यह प्रतिपादन किया है कि श्रीकृष्ण द्वारा प्रणीत यह कर्मयोग चित्त-शुद्धि के लिए आवश्यक है ताकि उसका उपासक ज्ञानयोग का अधिकारी बन सके। याने कर्मयोग को गौण माना है। परन्तु यह वस्तुस्थिति नहीं। यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञान कर्म एवं भक्ति का हृदयंगम त्रिवेणी संगम किया है तथापि मुक्ति के अनेक मार्ग उन्होंने प्रतिपादित किये हैं। वे कहते हैं कि—

'ध्यानेनात्मनि पश्यंति
के चिदात्माना मात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन
कर्मयोगेन चापरे ।।' गीता १३-२४
अन्ये त्वेवम जानंतः
श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरंत्येव
मृत्युं श्रुतिपरायणाः।। गीता १३-२५

अर्थात् 'परमात्मा को कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से, ध्यान द्वारा हृदय में देखते हैं (तथा) अन्य (कितने ही) ज्ञान योग के द्वारा (देखते हैं) और अपर (कितने ही) निष्काम कर्मयोग के द्वारा देखते हैं। परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मंद बुद्धि वाले पुरुष हैं वे (स्वयं) इस प्रकार न जानते हुए दूसरों से अर्थात् तत्व के जानने वाले तुरुषों से सुनकर ही उपासना करते हैं और वे सुनने के परायण हुए पुरुष भी मृत्युसंसारसागर को निःसंदेह तर जाते हैं।'

परमात्मा से एकात्मता ही कर्मयोग का लक्ष्य—दूसरी ओर कर्मप्रवृत्ति का साग्रह प्रतिपादन करने वाले अद्यतन दार्शनिकों ने इसमें केवल व्यवहार की आधारभूत नीति, प्राप्त कर्त्तव्य का निर्वाह, राष्ट्रभक्ति, मानवता आदि तत्वों तक भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा प्रणीत इस कर्मयोग को सीमित किया है। जिस व्यक्ति के लिए अधिक ऊपर उठने की पात्रता नहीं उसकी आत्मिक उन्नति के लिए वह सीमित दायरा उचित, आवश्यक एवं अपरिहार्य भी है। नित्य ब्राह्मी स्थिति में रममाण होने वाले दिव्य व्यक्ति के क्रियाकलाप इससे विसंगत होने का भी कोई कारण नहीं, लोक संग्रह के लिए वह आवश्यक भी है। तथापि गीता द्वारा प्रतिपादित कर्मयोग का लक्ष्य परब्रह्म और ब्राह्मी स्थिति ही है। श्री अरविंद कहते हैं कि—

'But the point here is that the modern mind has exited from its practical motive power two essential things, God or the Eternal and spirituality or the God state, which are the master conceptions of the Geeta. It lives in humanity only, and the Geeta would have us live in God, though for the world in God; in its life, heart and intellect only, and the Geeta would have us live in the spirit; in the mutable being, who is "all creatures, and the Geeta would have us live in the Immutable and the Supreme; in the changing march of Time and the Geeta would have us live in the eternal. Or if these higher things are now beginning to be envisaged, it is only to make them subservient to man and society; but God and spirituality exist in their own right and not as adjumets. And in practice the lower in us

must learn to exist for the higher, in order that the higher also may in us consciously exist for the lower, to draw it nearer to its own altitudes."

अर्थात् '(मनुष्य के) अद्यतन मन ने व्यावहारिक प्रेरक शक्ति से दो आवश्यक बातों को निष्कासित किया है (१) परमात्मा अथवा शाश्वत् सत्य एवं (२) आध्यात्मिकता अथवा ब्राह्मी स्थिति, जो गीता की प्रमुख संकल्पनाएं हैं। केवल मानवता में वह (अद्यतन मन) केन्द्रित है जब कि गीता चाहती है कि हम यद्यपि परमात्मा में (स्थित) संसार के लिए, तथापि परमात्मा में केन्द्रित हो; जीवन, अंतःकरण एवं बुद्धि में (अद्यतन मन केन्द्रित है) जबकि गीता चाहती है कि हम आत्मा में स्थित हो; क्षर में जीवसृष्टि में (अद्यतन मन केन्द्रित हैं) जब कि गीता चाहती है कि हम अक्षर में भी—परमात्मा में भी—प्रतिष्ठित हों, परिवर्तनशील काल गति में (अद्यतन मन केन्द्रित है) जब कि गीता चाहती है कि इस शाश्वत् में प्रतिष्ठित हों। अब यदि इन उच्च आदर्शों का अस्पष्ट विचार करना प्रारंभ हुआ है तो उन्हें केवल मानव एवं समाज के लिए उपयोगी बनाना यही एकमात्र उद्देश्य है (याने मानव से उन्हें गौण स्थान दिया गया है) परंतु परमात्मा एवं ब्राह्मी स्थिति गौण रूप से नहीं अपितु अपनी प्रतिष्ठा से सुप्रतिष्ठित हो। व्यवहार में अपने में (व्यक्ति में)जो अल्प है उसने भूमा के लिए (निरतिशय महान् के लिए, परमात्मा के लिए) जीने का अभ्यास करना होगा, ताकि अल्प को अपनी ऊंचाई तक ले जाने की दृष्टि से अपने में जो भूमा है वह अल्प के लिए बोधपूर्वक जी सके, ताकि उसे (वह) अपनी ऊंचाई तक ले जा सके।'

सामाजिक कार्य करने का विधान—ज्ञान योग के अथवा भक्ति योग के उपासक लोग जिस प्रकार अपनी सुविधा का अर्थ लगाकर कर्म से पराङ्मुख होते हैं उसी प्रकार निष्काम कर्मयोग की उपासना करने वाले का दावा करने अनेक लोग भी अपनी 'सुविधा' का अर्थ निकालते हैं और जो अपेक्षित कर्म है वह नहीं करते, यह विधान आश्चर्यकारक एवं मन पर आघात करने वाला होगा। मन में विचार आयेगा कि निष्काम कर्ममार्ग के राही अपेक्षित कर्म नहीं करते यह कैसे संभव है? परन्तु मनुष्य अपने आचरण का अर्थात् अकर्मण्यता का समर्थन करने के लिए अपनी बुद्धि का उपयोग (दुरुपयोग ?) कैसे करता है इस संबंध में ज्ञान एवं भक्तियोग के जो दो उदाहरण हमने पढ़े उनमें यह तीसरा भी समाविष्ट करना होगा। कर्मयोग का अर्थ ये लोग यह करते हैं कि अनासक्ति से—इष्टानिष्ट परिणाम से अनासक्त रह कर—अथवा कर्म में आसक्ति न रखकर और कर्तृत्व का अहंकार त्यागकर कर्म करना याने अपनी घर गृहस्थी से संबन्धित केवल निजकर्म करना और मन को बहलाने के लिए निष्काम कर्म का दावा करना। अब यह बात जो निःसंदेह है कि आसक्ति और कर्तृत्व का अभिमान रख

कर कर्म करने की अपेक्षा अनासक्ति से और कर्तृत्व के अहंकार को त्यागकर प्रकृति के गुणों द्वारा संपादित यह कर्म है यह अनुभव कर—कर्म करना अधिक श्रेयस्कर है। इतना करने से भी मन पर आने वाले तनाव दूर होकर बहुत मानसिक शांति मनुष्य को प्राप्त होती है। परन्तु इस योग में मुक्ति प्राप्त करने के लिए अन्य दो बंधक आवश्यक हैं (१) सर्व कर्मफलत्यागपूर्वक कर्म करना और (२) नित्य बुद्धियुक्त याने समत्व बुद्धि से युक्त होना। इन दोनों बंधकों की ओर वे अपनी सुविधा से दुर्लक्ष करते हैं। और निष्काम कर्म योग करने का मिथ्या संतोष वे अनुभव करते हैं। संभव है कि फलत्याग करने एवं बुद्धियुक्त होने की ओर, बोधपूर्वक यह दुर्लक्ष न किया जाता हो परन्तु यह सत्य है कि अनेक लोगों की यही धारणा रहती है कि अनासक्ति से और कर्तृत्व के अहंकार को त्यागकर निज कर्म करना कर्मयोग को अपेक्षित है। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने सुस्पष्ट रूप से कहा है कि—

'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि
फलं त्यक्त्वा मनोषिण:।
जन्मबंधविनिर्मुक्ता:
पदं गच्छंत्यनाभयम्।। गीता २-५१

अर्थात् 'क्योंकि बुद्धियुक्त ज्ञानी लोग कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्मरूपबंधन से छूटे हुए निर्दोष अथवा अमृतमय परमपद को प्राप्त होते हैं।' स्पष्ट है कि इस उक्ति में बुद्धियुक्त न होने पर एवं सर्व कर्मफल त्याग न करने पर मुक्ति नहीं मिल सकती; क्योंकि इस श्लोक में बुद्धियुक्त एवं 'फलं त्यक्त्वा' अर्थात् 'फल का त्याग कर' यह पूर्वसाध्य बंधक (Condition Precedent) पूर्ण करने का विधान है। निष्काम कर्मयोग की साधना करने के लिए इन उपरि-निर्दिष्ट चारों बंधकों का पालन करना अनिवार्य है। और चारों बंधकों से युक्त कर्म केवल वही कर्म होगा जिसमें स्वीकार्य कार्य का अंश भी नहीं है। याने वह कर्म केवल दूसरों के लिए अर्थात् समाज के लिए किया हुआ हो सकता है। अत: निष्काम कर्मयोगी के लिए वह पूर्वसाध्य बंधक (Condition Precedent) है कि बुद्धियुक्त हो और 'फलं त्यक्त्वा'—फल को त्याग कर—वह कर्म करें। याने अपने परिवार के अतिरिक्त दूसरों के लिए कर्म करें। समाज की भौतिक एवं आत्मिक उन्नति के लिए कर्म करें। आर्थिक लाभ अथवा मान-सम्मान की भी—उसका भी फल में समावेश है—अपेक्षा न रखते हुए कर्म करे। तभी वह बुद्धियुक्त एवं सर्वकर्मफलत्यागी कहलाने योग्य होगा और तभी वह मुक्ति का अधिकारी होगा।

पुन: यदि अपना निज कार्य भी—परिवार का कार्य भी—निष्काम कर्मयोग में अभिप्रेत है ऐसा मान्य किया तो भी फल प्राप्ति होने पर कितनी मात्रा में उस फल का अपने लिए अथवा अपने परिवार के लिए उपयोग करना इस संबंध में

भगवान् श्रीकृष्ण निःसंदिग्ध रूप से मार्गदर्शन करते हैं कि—

'यज्ञशिष्टाशिनः संतो
मुच्यंते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वचं पापा
ये पचंत्यात्मकारणात्।। गीता ३-१३

अर्थात् 'यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं (और) जो पापी लोग अपने शरीर पोषण के लिए ही पकाते हैं वे तो पाप ही खाते हैं।' स्पष्ट है कि प्राप्त फल के उपभोग में भी प्राथमिक महत्त्व यज्ञ को—समाज को अर्पित करने को है।

: ६ :

वर्ण एवं कर्म

चातुर्वण्य

किसी भी योग के अनुगामी क्यों न हों उनके लिए कर्म के विधान और निषेध की व्यवस्था करते समय आचार्यों ने चार स्थितियों को आधार माना है। वे हैं—(१) देश, (२) काल, (३) गुण और (४) श्रम। गुण स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। गुणों के विधान के अनुसार श्रीमद्‍भगवद्‍गीता में कर्मों का विधान किया हुआ है। उस दृष्टि से गुणों के आधार पर अपने यहां चार वर्ण बताए गये हैं। (१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय, (३) वैश्य, (४) शूद्र। उनके कर्मों का विभाजन भगवान् श्रीकृष्ण ने नीचे लिखे अनुसार किया है।

शमो दमस्तपः शौचं
क्षांतिरार्जवमेव च।
ज्ञान विज्ञानमास्तिक्यं
ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥' गीता १८-४२

अर्थात् 'अंतःकरण का निग्रह, इंद्रियों का दमन, धर्म के लिए कष्ट सहन करना, अंतर्बाह्य शुद्धि, क्षमा, मन, इंद्रिय एवं शरीर की सरलता, शास्त्र विषयक ज्ञान, परमात्म तत्त्व का अनुभव एवं आस्तिक्य बुद्धि ये ब्राह्मण के—सात्विक गुण स्वभाव से उत्पन्न—कर्म हैं।'

'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं
युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च
क्षत्रं कर्मस्वभावजम्॥' गीता १८-४३

अर्थात् 'शौर्य, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध में न भागने का स्वभाव, दान और स्वामी-भाव ये क्षत्रिय के—सत्व प्रधान रजोगुण स्वभाव से उत्पन्न कर्म हैं।'

'कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं
वैश्यकर्मस्वभावजम्।

परिचर्यात्मकं कर्म
शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।।' गीता १८-४४

अर्थात् 'खेती, गो पालन, क्रयविक्रयस्वरूप सत्य व्यवहार ये वैश्य के तमः प्रधान रजोगुण स्वभाव से उत्पन्न कर्म हैं और सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का—तमोगुण स्वभाव से उत्पन्न कर्म हैं।

विपरीत धारणाएं

अपनी इस वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में अनेक विपरीत धारणाएं बनी हुई हैं। इस व्यवस्था को बेकार कहने वालों में तो विपरीत धारणाएं हैं ही; परन्तु इस व्यवस्था को मानने वालों में भी हैं। पहले वर्ग के लोग कहते हैं कि 'यह व्यवस्था, संभव है, अतीत में अच्छी रही हो, परन्तु वह विषमता को प्रोत्साहित करती है। आज का युग विषमता का नहीं, समता का है। सबको समानता प्राप्त होनी चाहिए।' अतः आज इस व्यवस्था की आवश्यकता नहीं। उसे समाप्त करना चाहिए। दूसरे वर्ग के लोग यह सोचते हैं कि यह व्यवस्था बहुत कड़ी है। पूर्वजन्म में किये अच्छे अथवा खराब आचरण के अनुसार स्वभाव बनकर उस-उस वर्ण में ममुष्य जन्म लेता है। इस जन्म में वर्ण के अनुसार कर्म ठीक ढंग से कर अगले जन्म में मनुष्य उच्च वर्ण प्राप्त कर सकता है। परन्तु इस जन्म में उसे विहित कर्म करने होंगे। अर्थात् यह व्यवस्था बहुत कड़ी है, लचीली नहीं, यह उनकी धारणा है। अतः वे यह साग्रह प्रतिपादन करते हैं कि आंतर्वर्णीय और रूढ़ि से आंतर्जातीय खानपान एवं विवाह निषिद्ध हैं। परन्तु वे यह भी स्वीकार करते हैं कि आजकल वर्ण के अनुसार लोग कर्म नहीं करते हैं। तथापि वर्ण-व्यवस्था के संबंध में उनकी जो कल्पनाएं हैं उनमें वे किसी प्रकार से परिवर्तन नहीं करना चाहते।

वेदकालीन वर्ण-व्यवस्था—वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख अपने प्राचीनतम ग्रंथ में—ऋग्वेद में है। पुरुष सूक्त में कहा है कि—

'ब्राह्मणोस्य मुखपासीद्
बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः
पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।'

अर्थात् 'इस (विराट् पुरुष) का मुख ब्राह्मण है। क्षत्रिय उसकी भुजाएं हैं। वैश्य उसकी जंघाएं हैं (और) शूद्र उसके पैर हैं।' तथापि ऋग्वेद काल में वर्णों पर व्यवसाय के सम्बन्ध में बन्धन नहीं थे और न आंतर्वर्णीय खानपान अथवा विवाह पर प्रतिबन्ध था।

पुराणकालीन वर्ण-व्यवस्था—पौराणिक काल के साहित्य का अध्ययन करें तो समझ में आवेगा कि अर्वाचीन काल में जो कड़ापन···लचीलेपन का अभाव—

इस व्यवस्था ने धारण किया है, उसका उस समय अभाव था। महाभारत में भृगु कहते हैं कि—

'न विशैषोऽस्ति वर्णानां
सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि
कर्म भिर्वर्णतां गतम्।। शां० प० म० भा०

अर्थात् 'ब्रह्मा ने पहले सारा जगत् ब्राह्मण बनाया। कोई वर्ण विशेष नहीं था। कर्मों के कारण वर्ण विभाग बना। आगे वे कहते हैं कि—

'इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता
द्विजा वर्णांतरं गताः।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां
नित्यं न प्रतिविद्ध्यते।।' शां० प० म० भा०

अर्थात् 'इस प्रकार कर्म से विभक्त भिन्न वर्णों को प्राप्त हुए ब्राह्मणों के लिए धर्म यज्ञ क्रिया प्रतिविद्ध नहीं है। आपत्ति के समय ब्राह्मण वर्ण के लोग क्षत्रिय अथवा वैश्य वर्ण के व्यवसाय कर सकते थे। परन्तु ऐसा दिखता है कि शूद्र वर्ण को व्यवसाय करना निविद्ध था। तथापि देश एवं काल का अपना और ही महत्त्व माना गया है जैसा कि महाभारतकार कहते हैं—

'भवत्यधर्मो धर्मो हि
धर्माधर्मावुभावपि ।
कारणाद् देशकालस्य
देशकालो हि तादृशः।।' शां० प० म० भा०

अर्थात् 'देश एवं काल के कारण अधर्म, धर्म और धर्म, अधर्म होते हैं। इतना अधिक देश एवं काल का महत्त्व है।

पुनः वर्ण का लक्षण जन्म है अथवा शील इस सर्पयोनि को प्राप्त हुए नहुष के प्रश्न का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर वन पर्व में कहते हैं कि—

'सत्यं दानं क्षमाशील-
मातृशंस्यं तपो घृणा।
दृश्यते यत्र राजेंद्र
स ब्राह्मण इति स्मृत।।' व० प० म० भा०

अर्थात् 'जिसमें सत्य, दान, क्षमा, शील, दया और (कुकर्मों के प्रति) घृणा दिखते हैं, वह हे नागराज, ब्राह्मण है।' फिर आगे वे कहते हैं कि—

'यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प
वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।

यत्रैतन्न भवेत् सर्प
तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ।।' व० प० म० भा०

अर्थात् 'ऊपर लिखे हुए गुण जिसके आचरण में हों वह ब्राह्मण है और हे सर्प ! जिसके आचरण में इन गुणों का अभाव है, उसे शूद्र समझना चाहिए।'

अनुशासन पर्व में महेश्वर कहते हैं कि—

'सर्वोऽयं ब्राह्मणो लोके
वृत्तेन तु विधीयते।
वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि
ब्राह्मणत्वं नियच्छति ।।' अ० प० म० भा०

अर्थात् 'आचरण से ही सब ब्राह्मण बनाये जाते हैं। सदाचरण करने वाला शूद्र भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है।' आगे वे कहते हैं कि—

'न योनिर्न संस्कारो
न श्रुतं न च संततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य
वृत्तमेव तु कारणम् ।।' अ० प० म० भा०

अर्थात् 'न जन्म, न संस्कार, न बहुश्रुतत्व और न कुल, द्विजत्व के कारण हैं। उसका आचरण ही द्विजत्व का कारण है।' इन अवतरणों से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि पौराणिक काल में यही मान्यता रही कि शील ही वर्ण का प्रमुख लक्षण है। अतएव पौराणिक काल में तदनुसार वर्ण परिवर्तन होता था।

वर्णांतरण के उदाहरण—इस तत्त्व के आधार पर वर्ण परिवर्तन के अनेक उदाहरण महाभारत, भागवत आदि पुराणों में उपलब्ध हैं। उनमें सर्वपरिचित उदाहरण है विश्वामित्र का। वे राजा थे। क्षत्रिय थे। और ब्राह्मण होना चाहते थे। ब्राह्मण वर्ण में प्रवेश प्राप्त करने के लिए उन्हें जो अनेक साधनाएं करनी पड़ीं वे केवल यही सिद्ध करती हैं कि केवल अपना कर्म बदलने से काम पूर्ण नहीं होता; अपितु अनेक शारीरिक यातनाओं का अथवा आत्मकठोरतापूर्ण (Self denying) उपायों का अवलंब कर अपने स्वभाव में (गुण) परिवर्तन और सर्वप्रमुख अंतःकरण में परिवर्तन करना पड़ता है। पुनः आंतर्वर्णीय रोटी बेटी व्यवहार के भी अनेक उदाहरण पुराणों में उपलब्ध हैं। राजा ययाति का शुक्राचार्य की कन्या देवयानी से हुआ विवाह हम सबको विदित है। ऐतिहासिक काल में भी वैश्य राजा हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री का विवाह क्षत्रिय राजा ग्रहवर्मा से हुआ था।

स्तरी भवन अपरिहार्य

वास्तविकता यह है कि एक समय के लिए जो व्यवस्था बनायी जाती है, वह उस समय का विचार कर बनायी जाती है। और यों देखा जाय तो इस व्यवस्था

ने न केवल उस समय की आवश्यकताओं को पूर्ण किया, अपितु गत एक हजार वर्षों में आक्रांताओं का जब तांता लगा रहा तब हमने जो संरक्षणात्मक भूमिका अपनायी, उसमें इस व्यवस्था ने कवच जैसा कार्य किया है। गत एक हजार वर्षों में हमने समाज हित से विमुख होकर व्यक्तिनिष्ठ जीवन की विकृत कल्पना अपनायी। राष्ट्रीय अस्मिता की विस्मृति हुई। राष्ट्रीय आकांक्षाओं का विलोप हुआ। परिणामतः हमारे व्यक्ति-व्यक्ति में अपने अंतःकरण को राष्ट्र तक व्यापक बनाने की क्षमता नहीं रही। तब उस व्यापकता के अभाव में उसके वर्ण एवं जाति तक ही क्यों न हो, व्यापकता उसके अंतःकरण में सुलभता से निर्माण की जा सकी और वह उसके लिए प्रेरणा का स्रोत बनी। उदाहरणार्थ—'मैं हिन्दू हूं इस राष्ट्र का घटक हूं अतः मुझे युद्ध से विमुख नहीं होना चाहिए।' यह मत्र जब प्रेरक नहीं रहा तब 'मैं क्षत्रिय हूं मुझे युद्ध से विमुख नहीं होना चाहिए।' यह वर्ण एवं जाति की भावना उसके लिए प्रेरणा का स्रोत बनी। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को उसके वर्ण एवं जाति की भावना प्रेरक रही। परिणामतः हम अपना अस्तित्व बनाये रख सके और पराधीन होने पर पर भी हम अपने आदर्शों को सुरक्षित रख सके। अन्यथा जो स्थिति ईरान आदि देशों की हुई, वह हमारी भी हो जाती। परंतु परिणामतः यह कवच बहुत कड़ा हुआ और उसका लचीलापन पूर्णतया नष्ट हुआ। फलतः आगे आने वाली समस्याओं को सुलझाने की उसमें क्षमता नहीं रही। स्वभावोत्पन्न गुण के अनुसार कर्म का निर्धारण यह उसकी मान्यता बिलकुल ठीक है। उसमें केवल लचीलापन रहे और किसी वर्ण विशेष को विशेष अधिकार न रहते हुए सबको उन्नति करने का समान अवसर प्राप्त हो, ये दो सुधार उसमें करना आवश्यक है। उस दृष्टि से समाज को प्रेरित करने का कार्य अद्यतन आचार्य कर रहे हैं। पूज्यपाद श्रीस्वामी विवेकानंद कहते हैं कि—

"Caste is good. That is the only natural way of solving life. Men must form themselves into groups and you can not get rid of that. Whereever you go, there will be a caste. But that does not mean that there should be privileges. They should be knocked down on the head. If you teach Vedanta to a fisherman, he will say, "I am as good a man as you; I am a fisherman, you are a philospher; but I have the same (a) in me as you have in you." And that is what we want. No privileges for anyone, equal chances for all let every one be taught that the divine is within, and everyone will work out his salvation. The days of exclusive privileges are gone, gone for ever from the soil of India.

अर्थात् "जाति व्यवस्था ठीक है। जीवन की समस्याएं सुलझाने का वही एकमात्र

स्वभाविक उपाय है। मानव को अपनी जाति-गुट-निर्माण करना ही चाहिए। उससे आप मुक्त नहीं हो सकते। आप जहां देखेंगे वहां जातियां दिखेंगी। परंतु उसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें विशेष अधिकार हों। उन्हें निर्मूल करना चाहिए। यदि आप एक मछिआरे को वेदांत सिखायेंगे तो वह कहेगा 'मैं उतना ही अच्छा हूं जितने आप हैं। मैं मछिआरा हूं आप दार्शनिक हैं। परन्तु मुझमें उसी परमात्मा का अंश है जिसका आप में है।' हम यही चाहते हैं। किसी के लिए कोई विशेष अधिकार नहीं, सबके लिए समान अवसर। प्रत्येक व्यक्ति को यह शिक्षा दो कि—'देवत्व अंदर है' और फिर प्रत्येक अपने ढंग से मुक्ति का प्रयास करेगा। अलग से विशेषाधिकार सुरक्षित रखने के दिन भारत की भूमि से हमेशा के लिए लद चुके हैं।" पुनः सूक्ष्म निरीक्षण करने पर यह समझ में आयेगा कि मानव स्वभावतः वर्णहीन अथवा वर्गहीन समाज व्यवस्था को बनाए नहीं रख सकता। इस्रायल की किव्यूट्ज़ (Kibutz) जीवन उदाहरण इस दृष्टि से बहुत बोधप्रद है। इ० स० १९०० में वर्गहीन समाज से प्रारम्भ की हुई यह जीवन-प्रणाली यथा समय किसी-न-किसी आधार पर भिन्न-भिन्न स्तर अथवा वर्ण अथवा वर्ग बनने में परिणत हुई। वर्णव्यवस्था का विरोध मनुष्य भले ही करे, यथासमय वह अनजाने में बन ही जाती है।

वर्ग व्यवस्था से वर्णव्यवस्था श्रेयस्कर—अपनी वर्णव्यवस्था विषमता को प्रोत्साहित करती है, ऐसा कहकर हम उसका आज भले ही धिक्कार करें, परंतु इस सत्य की ओर हम दुर्लक्ष नहीं कर सकते कि आधुनिकतम होने का दावा करने वाले पाश्चात्य देशों में भी यह व्यवस्था स्तरीकरण है। यदि वर्ण पर आधारित नहीं तो वर्ग पर आधारित है। पुनः केवल जन्म, धन, संपत्ति, सत्ता आदि भौतिक मूल्यों पर आधारित होने से बुद्धि, सत्ता एवं संपत्ति का उसमें केंद्रीकरण होकर समाज में भीषण विषमता निर्माण करने में एवं दुर्बलों पर अत्याचार करने में उसकी परिणति हुई है। परन्तु अपनी वर्णव्यवस्था का आधार गुण एवं कर्म होने के कारण इसमें स्वाभाविकतया विकेंद्रीकरण होकर शक्ति का संतुलन रहता है; क्योंकि अधिकार के आधार पर नहीं अपितु पात्रता के अनुसार समाज के प्रति कर्तव्य के आधार पर ही यह व्यवस्था आचार्यों ने बनायी। अतएव हम यह देखते हैं कि समाज का मार्गदर्शन करने के लिए साधनभूत निर्मल बुद्धि और विवेक उत्पन्न हो इसलिए ब्राह्मण को—अर्थात् सात्विक स्वभाव के व्यक्ति को विषयों का सर्वथा त्याग कर आत्मकठोर (Self denying) होकर असंग्रह एवं अपरिग्रह का व्रत अपनाना अपेक्षित है। समाज की रक्षा क्षत्रिय का—अर्थात् सत्व प्रधान राजस स्वभाव के व्यक्ति का कार्य रहता है। अतः उससे अपेक्षा है कि वह सदैव प्राण-त्याग के लिए सिद्ध रहे। समाज का भरण-पोषण वैश्य का—अर्थात् तमःप्रधान राजस स्वभाव के व्यक्ति का कर्त्तव्य है। अतः उसे अर्थ का सपत्ति का त्याग करने

के लिए सदैव सिद्ध रहना चाहिए। समाज सेवा करने के लिए निरीहता एवं पृथिवी सदृश सहिष्णुता शूद्र के लिए—अर्थात् तामस स्वभाव के व्यक्ति के लिए—बतायी गयी। याने जिसे प्रतिष्ठा अधिक, उसे भौतिक सुविधा कम और जिसे भौतिक सुविधा अधिक उसे प्रतिष्ठा कम, यह संपूर्ण सुख प्राप्ति में अनुपात रहा। इसी दृष्टिकोण से यह सारी व्यवस्था बनी। वर्णव्यवस्था के बारे में श्री अरविंद कहते हैं कि—

—"We see too the four fold order of society is merely the concrete form of a spiritual truth which is itsef independent of the form; it rests on the conception of right work as a rightly ordered expression of the nature of the individual being through whom the work is done, that nature assigning him his time and scope in life according to his inborn quality and his self expressive function.

अर्थात् 'हम यह भी अनुभव करते हैं कि जो रूप से (निरपेक्षतया) स्वयं स्वतंत्र है उस दार्शनिक सत्य का समाज की वर्णव्यवस्था यह ठोस रूप है; जिसके द्वारा कर्म किया जाता है उस व्यक्ति के स्वभाव की उचित रीति से एवं व्यवस्थित रूप से अभिव्यक्ति के अनुसार उचित कर्म की संकल्पना पर वह (वर्णव्यवस्था आधारित है; (और) उसका स्वभाव उसके जन्मजात गुणों के एवं स्वयं अभिव्यंजक कार्य के अनुसार जीवन में उसका समय एवं कार्य-क्षेत्र उसे सौंपता है।'

ऊंच-नीच की वर्णव्यवस्था में भावना नहीं—यद्यपि ये चार श्रेणियां बतायी गयीं तथापि वस्तुतः उनमें ऊंच-नीच का भाव नहीं है। कोई प्रधान और कोई नीच नहीं है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार अपना कर्त्तव्य देखकर उसमें अभिरत होना, याने अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर निष्कपट होकर स्वकर्त्तव्य का निर्वाह करना ही अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया। निःस्वार्थ बुद्धि से, अनासक्त भाव से, अहंकाररहित एवं निष्काम भाव से किया गया कर्म अधिक श्रेयस्कर माना गया। इस प्रकार कर्म करते हुए फिर वह किसी भी श्रेणी का कर्म क्यों न हो सब एक ही गंतव्य को पहुंच सकते हैं। इतना ही नहीं निष्काम भाव से अर्थात् निःस्वार्थ भाव से एवं अहंकाररहित होकर किया हुआ किसी भी श्रेणी का कार्य-सकाम बुद्धि से अर्थात् स्वार्थ बुद्धि से, आशक्ति से एवं अहंकार से किये हुए अन्य श्रेणी के कार्य से, न केवल अधिक फलप्रद है अपितु चित्तशोधक भी है। यह सत्य अनुभूति के आधार पर आचार्यों ने कहा। निष्काम भाव से अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करने वाले व्यक्ति के बारे में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः
संसिद्धिं लभते नरः' ॥ गीता १८-४५

अर्थात् 'अपने-अपने (स्वाभाविक) कर्म में संलग्न मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता

है।' स्पष्ट है कि उसका सहज कर्म किस श्रेणी का है, यह गौण प्रश्न है और निष्काम भाव से कर्म करना अधिक कल्याणकारक है अतएव महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में अपने 'पंचम वेद' महाभारत के वन पर्व में एक बहुत ही रोचक एवं उद्बोधक कथा है। वह व्याध-कथा नाम से प्रसिद्ध है।

व्याध-कथा—कौशिक नामक एक ब्राह्मण ने वन में रहकर बहुत तपस्या की। एक बार एक वृक्ष के नीचे जब वह समाधि में लीन था, तब एक बलाका पक्षिणी की विष्ठा उसके शरीर पर गिरने से उसकी समाधि भंग हो गयी। ज्योंही उसने उस पक्षिणी की ओर देखा त्योंही वह नीचे गिरी और मर गयी। अपनी साधना से उसे सिद्धि प्राप्त हुई है यह अनुभव कर उस ब्राह्मण का अहंकार जागृत हुआ। बाद में एक नगरी में वह भिक्षा मांगने गया। एक घर जाकर उसने एक महिला से भिक्षा मांगी। उस महिला ने उसे कहा 'जरा रुको। मैं बर्तन मांज रही हूं। मांजकर भिक्षा लाती हूं।' उसी समय उसका पति बाहर से लौटा। उस ब्राह्मण की ओर ध्यान न देकर उस पतिव्रता स्त्री ने पति को हाथ पैर धोने के लिए पानी देकर उसे भोजन परोसा। कर्त्तव्यनिष्ठ उस स्त्री को बाहर खड़े उस याचक का एकदम स्मरण हुआ। शरमा गयी और उसके लिए भिक्षा ले गयी। 'तूने विलंब क्यों किया?' ऐसा पूछने पर वह साध्वी बोली, 'मेरे पति अभी बाहर से लौटे हैं। उनकी सेवा कर मैं तुझे भिक्षा देने आयी हूं। विलंब के लिए क्षमा कर।' तब वह ब्राह्मण बोला, 'तू ब्राह्मणों का अपमान करती है। तुझे नहीं मालूम ब्राह्मण पृथ्वी को भी जला देते हैं।' तब वह स्त्री बोली, 'मैं बलाका पक्षिणी नहीं हूं। क्रोधभरी दृष्टि से तू मेरा क्या कर लेगा? देवतुल्य ब्राह्मणों का मैंने कभी अपमान नहीं किया। मुझे क्षमा कर। पतिव्रता होने से मैं जान गयी कि तूने पक्षिणी को जला दिया है।' फिर उसने उस ब्राह्मण को क्रोध, मोह, त्याग, इंद्रिय निग्रह आदि ब्राह्मणों के लक्षण बताये और कहा, 'तत्वतः तू धर्म नहीं जानता। माता-पिता की सेवा में तत्पर, सत्यवादी, जितेंद्रिय धर्मव्याध मिथिला में रहता है। उसके पास जाकर धर्म की शिक्षा ग्रहण कर। स्त्रियां अवध्य रहती हैं यह धर्मविदों की मान्यता है।' उस साध्वी के साक्षात्कार एवं चिंतन पर कौशिक को आश्चर्य हुआ और उसने धर्मव्याध से जाकर मिलने का निश्चय किया। व्याध की दुकान के पास जाकर ज्योंही उसने वहां मारे गये पशुओं का मांस देखा त्योंही उसे घृणा का अनुभव हुआ। परन्तु तब उसे आश्चर्य हुआ जब व्याध ने उससे कहा, 'मैं जानता हूं उस साध्वी ने तुम्हें यहां भेजा है। जरा ठहरो। मैं यहां का काम निपटा लूं। बाद में घर जाकर बात करेंगे।' घर पहुंचने पर व्याध ने उसे हाथ पैर धोने के लिए पानी दिया और आसन दिया। कौशिक ने कहा, 'तेरा यह कर्म मुझे उचित नहीं लगता।' तब व्याध बोला, 'मेरा यह कुलोचित कर्म है। मेरे लिए विधाता ने इसका विधान किया है। यह करते हुए मैं गुरु एवं वृद्धजनों की

सेवा करता हूं। सत्य बोलता हूं। देव, अतिथि एवं भृत्यों को देकर अवशिष्ट से जीवन चलाता हूं। न किसी की निंदा करता हूं और न द्वेष।' फिर व्याध ने प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्यों का उसे स्मरण दिलाया और कहा, 'निम्न वर्ण में जन्मा मनुष्य शीलवान् हो सकता है और प्राणीहिंसक होने पर भी धार्मिक हो सकता। पहले किये पापों का यह फल है। जो मारा जाता है वह भी अपने कर्मों का फल भोगता है, मारने वाला निमित्त मात्र है। धर्म की गति सूक्ष्म है। प्राणांतिक प्रसंग आने पर अथवा विवाह के समय बोला गया असत्य भी सत्य एवं सत्य भी असत्य होता है।' कौशिक ने उससे अनेक प्रश्न पूछे और व्याध ने उत्तर दिये। अनेक दार्शनिक सिद्धांतों का उसे उपदेश दिया। कौशिक ने देखा कि उसके माता-पिता भी पुत्र के व्यवहार से संतुष्ट हैं। वह उन्हें अपना देवता मानता है। ब्राह्मण ने कहा, मुझे अब उस पतिव्रता साध्वी का वाक्य स्मरण में आता है। मेरा मत है कि तुम ब्राह्मण हो। इसमें संशय नहीं। आगे उसने कहा है कि—

'दांभिको दुष्कृतः प्रायः
शूद्रेण सदृशो भवेत्।
यस्तु शूद्रो दमे सत्ये
धर्मे च सततोत्थितः।।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये
वृत्तेन हि भवेद्द्विजः।
कर्मदोषेण विषमां
गतिमाप्नोति दारुणाम्।। व० प० म० भा०

अर्थात् 'जो दांभिक दुष्कर्म करता है वह शूद्र है। परन्तु जो शूद्र, दम, सत्य एवं धर्म में स्थित है उसे मैं ब्राह्मण समझता हूं; क्योंकि आचरण से ही ब्राह्मण होता है। (पूर्वजन्म के) कर्म दोष से विषम गति को प्राप्त होता है।' फिर वह ब्राह्मण व्याध से कहता है कि, 'हे नरोत्तम। अब तेरा दोष क्षीण हो गया है। तेरे जैसे लोग विषादरहित रहते हैं।' व्याध ने उत्तर दिया कि—

'त एव सुखमेधंते
ज्ञानतृप्ता मनीषिणः।
असंतोषपरा मूढाः
संतोष यांति पंडिताः'।।

(व० प० म० भा०)

अर्थात् 'जो ज्ञान तृप्त मनीषी रहते हैं उन्हें सुख प्राप्त होता है। मूढ़ असंतुष्ट, एवं पंडित संतुष्ट रहते हैं।'

'असंतोषस्य नास्त्यंतः
तुष्टिस्तु परमं सुखम्।

न शोचंति गताध्वानः
पश्यंतः परमां गतिम् ॥' व० प० म० भा०

अर्थात् 'असंतोष का अंत नहीं। संतोष से परम सुख है। (भविष्य की) परम गति देखकर जो अपना मार्ग तय कर चुके हैं, (व्यतीत समय का) वे पंडित शोक नहीं करते।'

'न विषादे मनः कार्यं
विषादो विषमु-तमम्।
मार यत्यकृतप्राज्ञं
बालं क्रुद्ध इवोरगः ॥ व० प० म० भा०

अर्थात् 'विषाद एक भयंकर विष है। (अतः) विषाद नहीं करना चाहिये। क्रुद्ध सर्प जैसा मारता है वैसे ही विषाद अप्रगल्भमति को—मूर्ख को—मारता है।' यह उपदेश अति संक्षेप में यहां दिया है। यह अपने यहां व्याध गीता नाम से प्रसिद्ध है। पुज्यपाद श्री स्वामी विवेकानंदजी ने इसके बारे में कहा है कि "It is one of the highest flights in Vedant" अर्थात् 'यह वेदांत की उच्चतम उड्डानों में से एक उडान है।'

स्पष्ट है कि महत्त्व इस बात का है कि अपने स्वभाव से उत्पन्न गुण के अनुसार अपने लिए जो प्राप्त कर्त्तव्य है उसे अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर निष्काम एवं अनासक्त भाव से तथा अहंकाररहित होकर यदि हम करते हैं तो हमारी आत्मिक उन्नति होगी और अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। पुनः भिन्न-भिन्न श्रेणियों में एक प्रधान ओर एक गौण यह भावना नहीं है। यदि है तो उसका आधार श्रेणियां नहीं अपितु विधिनिषेध की व्यवस्था का उल्लंघन करते हुए किया हुआ कर्म और विधिनिषेध की व्यवस्था का पालन करते हुए किया हुआ कर्म और सकाम कर्म और निष्काम कर्म उनके अनुक्रम से गौण एवं प्रधान होने के निकष हैं।

: ७ :

ब्रह्मचर्याश्रम

चतुर्विध पुरुषार्थ एवं चतुर्विध आश्रम—हमारे व्यक्ति एवं समाज का लक्ष्य धर्म को आधार मानकर अर्थ एवं काम की प्राप्ति करते हुए अन्ततोगत्वा मोक्ष प्राप्त करना है। इस चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए अपने यहां मनुष्य जीवन को चतुर्विध आश्रमों में विभक्त किया हुआ है। वे हैं (१) ब्रह्मचर्याश्रम, (२) गृहस्थाश्रम, (३) वानप्रस्थाश्रम और (४) संन्यासाश्रम।

शिक्षा का उद्देश्य—जीवन के लक्ष्य की पूर्ति के लिए शिक्षा बहुत सहायक होती है। अतः लक्ष्य पूर्ति में सहायक शिक्षा देकर व्यक्ति के व्यक्तित्व का गठन करने का प्रबन्ध अपने आचार्यों ने किया। इस चतुर्विध पुरुषार्थ की धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की—प्राप्ति कर सके इस दृष्टि से उसके शरीर, बुद्धि एवं मन का विकास करना और उसके व्यक्तित्व में कोई त्रुटि हो तो वह त्रुटि समाज के चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति में बाधक न बने इसलिए दोनों में समन्वय हेतु उसे संस्कारित करना यह शिक्षा का उद्देश्य रहा।

उपनयन एवं आचार्य कुल व्यवस्था—पहले आश्रम में—ब्रह्मचर्याश्रम में—प्रवेश पाते समय उपनयन संस्कार का विधान है। उप याने पास, नयन याने पहुंचाना। अर्थात् गुरु के पास पहुंचाना। उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक ब्रह्मचारी को शरीर, बुद्धि एवं मन की शिक्षा ग्रहण करने के लिए आचार्य कुल में जाने की परम्परा रही। शिक्षा ग्रहण करने की इस अवधि को ब्रह्मचर्याश्रम कहा गया। आचार्य कुल में आचार्य के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में शिष्य रहता था। वहां सभी शिष्यों के साथ समान रूप से व्यवहार करने की भूमिका रही। 'आचार्यदेवो भव' का उपदेश कर शिष्य को आचार्यों का आदर करने का विधान किया गया। माता-पिता मनुष्य को जन्म देते हैं: अतः पूज्य हैं; परन्तु विद्यादान कर आचार्य वास्तविक मनुष्य बनाते हैं। अतः उनके लिए आदर देने की व्यवस्था रही। शिक्षा देने के लिए आचार्यों को न कोई शुल्क दिया जाता था और न वे लेते थे। अध्ययन समाप्ति के पश्चात् शिष्य केवल यथाशक्ति आचार्यों को दक्षिणा देते थे। परन्तु देने के लिए बाध्य नहीं थे। कुछ देना असम्भव होने पर पुष्पमात्र अर्पण करने की

प्रथा रही। आश्रमों में शिक्षा प्राप्त करना ही उद्देश्य रहा। किसी पारितोषक, पुरस्कार आदि से शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरित नहीं किया जाता था। फलतः स्पर्धा एवं उससे उत्पन्न आपसी बैरभाव का अभाव था। आमिष एवं स्पर्धा के परिणामस्वरूप आज शिक्षार्थियों एवं शिक्षकों में जो विकृतियां उत्पन्न हुई दिखती हैं उनका भी स्वाभाविक रूप से अभाव था।

शारीरिक शिक्षा—अपनी रुचि, पात्रता एवं स्वभाव के अनुसार क्षेत्र निर्धारित होने पर साधना के उस मार्ग को तय करने के लिए सबसे प्रमुख साधन शरीर माना गया है; क्योंकि हमें जो कुछ व्यक्ति के नाते एवं समाज की एक इकाई के नाते करना है उसका माध्यम होता है शरीर। हम सब कार्य अच्छे ढंग से कर सकें, इसलिए हमारा शरीर सुदृढ़ होना चाहिए। सब प्रकार के कष्ट उठाने की उसमें क्षमता होनी चाहिए। कालिदास ने कहा है 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।' इस हेतु से आसन, सूर्य-नमस्कार आदि का विधान किया गया। अपनी व्यवस्था में शरीर को इतना महत्त्व दिया गया कि शत्रुओं से शरीर की रक्षा करने के लिए जो विद्या रही उसे धनुर्वेद कहा गया और रोगों से शरीर की रक्षा करने के लिए और रोग होने पर उपचार करने के लिए एवं स्वास्थ्य के लिए जो शास्त्र प्रणीत किया गया उसे आयुर्वेद कहा गया। उसके द्वारा कौन-सी ऋतु में क्या सेवन करना और क्या नहीं इस सम्बन्ध में हमारा मार्गदर्शन हुआ। स्वास्थ्य हेतु जो नियम बने उनका भी विधिनिषेध के रूप में धर्म की व्यवस्था में समावेश हुआ; क्योंकि लोगों की धर्म पर इतनी श्रद्धा है। यह धर्म का निर्देश है, ऐसा कहने पर लोग उसे मान लेते हैं। आहार, विहार, व्यायाम तथा स्वच्छता की दृष्टि से धर्म ने व्यवस्था दी। विधिनिषेध के नियम बने।

परन्तु जब कभी महापुरुषों द्वारा किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए विधिनिषेध का ढांचा बनाया जाता है तब उनके अंतर्निहित उद्देश्य का उनके अनुयायियों को अथवा उनके पश्चात् आने वाली पीढ़ियों को स्मरण नहीं रहता। गहराई में जाकर समझने की उनमें पात्रता नहीं रहती। फलतः उनके रूपों में विकृतियां और उनके सम्बन्ध में कई बार विपरीत धारणाएं भी उत्पन्न होती हैं जैसा कि हम वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में देख चुके हैं। फिर उसे कर्मकांड बनाकर लोग उसका एकांतिक अर्थ निकालने लगते हैं। परिणामतः जैसा कि हम स्वच्छता के सम्बन्ध में देखते हैं, किसी के हाथ का न खाना, न पीना और न किसी को स्पर्श करना इस प्रकार विकृतियां बढ़ीं। और कोल्हू का बैल जैसे खंबे के चारों ओर घूमता रहने पर भी एक ही स्थान पर रहता है, उसके जीवन में कोई प्रगति नहीं होती वही स्थिति विधिनिषेध की व्यवस्था का एकांतिक अर्थ निकालने वाली नयी पीढ़ियों की बनी। केवल खानपान के नियम और अपने शरीर का स्वस्थ रूप से पालन-पोषण उनकी व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि यहीं तक सीमित बनी। समाज हित से वे

विमुख हुए और शरीर, जो धर्म का साधन है, वह साध्य बन गया। स्पष्ट है कि आध्यात्मिक विकास के बदले, शरीर को ही—जो निरी भौतिक वस्तु है—सर्वस्व मानने के कारण उनके जीवन का लक्ष्य आधिभौतिक ही बना। परिणामत: समाज में बड़ी खाईयां निर्माण हुई और समाज का काफी ह्रास हुआ। याने उनका वह अधर्माचरण ही रहा। अत: आवश्यकता यह है कि उन विधिनिषेध के नियमों के अंतर्गत हेतु को समझें। धर्म का साधनभूत यह शरीर स्वस्थ रहे, स्वच्छ रहे, सशक्त रहे यही वस्तुत: अंतर्निहित उद्देश्य है। और एकांतिकता यह कोरी विकृति है, यह ठीक-ठीक समझ लेना होगा। पाश्चात्य विद्याप्रभावित अपने लोगों ने विधिनिषेध के बाह्य ढांचे को ही देखकर उस उद्देश्य को नहीं पहचाना और उस ढांचे को ही वे धर्म समझ बैठे। समकालीन लोग उन्हें वह उद्देश्य नहीं समझा सके। अत: धर्म याने केवल विधिनिषेध के नियम हैं, वे केवल परलोक साधक हैं और चूंकि परलोक पर हमारा विश्वास नहीं अत: धर्म की और उसके नियमों की हमें आवश्यकता नहीं, ऐसी उनकी मनोरचना बनी। धर्म पर विश्वास न होने के कारण स्नान करना आवश्यक नहीं ऐसा उन्होंने सोचा और पाश्चात्यों से स्वच्छता नहीं सीखी। अत: न घर के रहे, न घाट के। स्पष्ट है कि मूल उद्देश्य को समझना आवश्यक होता है। अब हम जरा विचार करें कि सर्वांगीण दृष्टि से शरीर को, जो निरी भौतिक वस्तु है, हृष्ट-पुष्ट रखने का मार्गदर्शन जिस धर्म की व्यवस्था के अंतर्गत एक विषय है, वह धर्म क्या इहलोकसुखकारक नहीं? क्या फिर हम ऐसा कह सकते हैं कि वह केवल परलोकहितकारक अथवा परमार्थ साधक है? हम जरा सोचें। अस्तु।

बौद्धिक शिक्षा—शरीर का धारण ठीक प्रकार से होने के लिए—अर्थात् बाह्य शुद्धि के लिए—जैसी व्यवस्था दी गयी, वैसी अंत:शुद्धि की साधनभूत बुद्धि का विकास करने के लिए भी व्यवस्था दी गयी। बुद्धि का समुचित विकास होने से कार्य एवं अकार्य में विवेक करना और प्राप्त परिस्थिति में से मार्ग निकालना संभव होता है। अत: बुद्धि का विकास होने के लिए भी ब्रह्मचर्याश्रम में संस्कार किये जाते थे। वेद, उपनिषद्, पुराणादि स्मृतियों के अध्यापन द्वारा आध्यात्मिक विद्या का तथा अर्थ एवं काम पुरुषार्थ की प्राप्ति में पालन करने योग्य विधिनिषेध के नियमों का उपदेश दिया जाता था। इसके अतिरिक्त भूगोल, खगोल, इतिहास वनस्पति शास्त्रों का भी अध्ययन किया जाता था। समर्थ रामदास ने इन शास्त्रों के ज्ञान को नवविद्या भक्ति का अंग माना है और उसमें तीर्थाटन का भी समावेश किया है। स्पष्ट है कि इस व्यवस्था में भौतिक ज्ञान की उपेक्षा नहीं की गयी।

मानसिक शिक्षा—परंतु कार्य एवं अकार्य में विवेक करने की क्षमता प्राप्त होने मात्र से लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकती। तदर्थ आवश्यकता होती है कृति की। कृति संकल्प की अनुगामिनी होती है और संकल्प करना यह मन का अंत:-

करण का—धर्म है। वह सत्य संकल्प करें इसके लिए उसे शुद्ध, पवित्र रखना आवश्यक होता है। पुनः अंगीकृत कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए मन एकाग्र होना बहुत आवश्यक होता है। मन स्वभावतः चंचल है और वह सुगमता से एकाग्र नहीं होता। मन एकाग्र नहीं हुआ तो संपूर्ण शक्ति केंद्रित कर दायित्व का निर्वाह करना असंभव हो जाता है। हम अध्ययन करते हों उसी समय दूसरा कोई विचार जैसे खेल के मैदान का मन में आया तो हमें पुस्तकों में क्या लिखा है समझ में नहीं आता। खेलते समय घर के विचार मन में आये तो अच्छी प्रकार से हम खेल नहीं सकते। घर जाने पर, बाजार से जो वस्तुएं खरीदनी हैं उनका विचार मन में आया तो घर के काम हम ठीक प्रकार से नहीं कर सकते। अतः आवश्यकता यह है कि हम जो भी कार्य करते हों उसी में अपना मन एकाग्र करें, तब सफलता मिलती है। मन एकाग्र करने के लिए विषयों से इंद्रियों को दूर करना आवश्यक होता है। परंतु वह भी पर्याप्त नहीं; क्योंकि उन विषयों के उपभोग से प्राप्त होने वाले क्षणिक सुख का यदि मन चिंतन करता रहा तो उपभोग के अभाव में वह व्याकुल हो उठता है और काम क्रोधादि विकार बढ़कर मन स्थिर नहीं होता। चंचलता बढ़ती है। परिणामतः सत्कार्य करने के लिए आवश्यक संकल्प-शक्ति प्राप्त नहीं होती। अतः मन की चंचलता नष्ट करने के लिए जीवनयापन करने में आवश्यकताओं को न्यूनतम करने का संस्कार आश्रमों में किया जाता था और विधिनिषेध के नियमों का आग्रहपूर्वक पालन करवाया जाता था। प्राणायाम, ध्यान, धारणा आदि का अभ्यास करवाया जाता था।

दश लक्षण धर्म—मनु ने जो दश लक्षण धर्म बताया है वह पवित्र अंतःकरण का परिचायक है। मनु कहते हैं कि—

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं
शौचमिंद्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो
दशकं धर्मलक्षणम्॥'

अर्थात् 'धैर्य, क्षमा, मन को अपने वश में रखना, चोरी न करना, जीवन अंतर्बाह्य पवित्र रखना, इंद्रियों को अपने वश में रखना, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध ये धर्म के दस लक्षण हैं।' इन दस गुणों का तथा अन्य सद्गुणों का संस्कार आश्रमों में किया जाता था।

अनेकविध उपासनाओं का विधान एवं शिक्षा—इन सद्गुणों का जीवन में विकास हो इसके लिए जो अनेकविध उपासनाओं के मार्ग अपने यहां बताये गये हैं उन्हें भी उपदेश के तत्त्व के आधार पर छात्रों को सिखाया जाता था।

'देहबुद्ध्या तु दासोऽहं
जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।

चितिबुद्धया त्वमेवाह-
मिति मे निश्चला मतिः ।।"

अर्थात् 'देह बुद्धि से भगवान् की ओर देखने वाला दास भाव स्वीकारता है। जीव-बुद्धि से जो भगवान् की ओर देखता है वह अपने को परमात्मा का अंश समझता है और चितिबुद्धि से—चैतन्य बुद्धि से—जो चिंतन करता है वह 'सोऽहम्' अर्थात् 'मैं परमात्मा हूं' यह साक्षात्कार करता है। 'सोऽहम्' का साक्षात्कार करने के लिए छात्रों को प्राणायाम, ध्यानधारणा, ज्ञानोपासना, नित्य चिंतन आदि साधनाएं बतायी जाती थी। अतः शनैः-शनैः विकास करने के लिए रुचि, पात्रता एवं अधिकार के अनुसार भिन्न-भिन्न ध्येय एवं साधनाएं बतायी जाती थीं। दैवी गुणों को जो अपने जीवन में उतारने का लक्ष्य रखते थे उन्हें उपदेश दिया जाता था कि वे अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उस गुण के अधिष्ठाता देवता की उपासना करें। अतः भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासनाओं का प्रावधान हुआ। इसीलिए हम आज भी अपने यहां देखते हैं कि जो शक्ति की उपासना करना चाहता है वह दुर्गा माता की पूजा करता है। जिसे ऐश्वर्य की अभिलाषा है वह लक्ष्मी की अर्चना करता है। विद्या एवं कलाओं के उपासक सरस्वती की उपासना करते हैं। जिसने दास भाव स्वीकार किया वह हनुमानजी को अपना देवता समझता है। जो व्यक्ति विधिनिषेध की व्यवस्था के अनुसार आचरण करने का लक्ष्य अपने सम्मुख रखता है वह मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्रजी की आराधना करता है। विधिनिषेध के बंधनों से ऊपर उठकर अहं भाव रहित होकर, अनासक्त बुद्धि से कोई निष्काम समर्पण भावयुक्त कर्मयोगी जहां एक ओर पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण को अपना आदर्श समझता है वहां दूसरी ओर उसी भगवान् को शिशु रूप में देखने की इच्छा रखने वाली कोई माता श्रीकृष्ण की बालकृष्ण के रूप में पूजा करती है। अहिंसा के एकांतिक मत का प्रतिपादन करने वाले श्रेष्ठ साधु कहीं भगवान् बुद्ध अथवा भगवान् महावीर की उपासना करते हैं और जिन्होंने कष्ट-रूपी विष का प्राशन कर सुखरूपी अमृत सारे संसार को देने का बीड़ा उठाया वे वीतराग महाभाग विभूतिभूषण भगवान् शंकर को ही अपना आदर्श मानकर फकीरी वृत्ति अपनाते हैं। एक से अधिक दैवी गुणी को आत्मसात् करने की इच्छा वाले अनेक देवताओं की उपासना करते हैं। सबको उनकी रुचि, प्रवृत्ति एवं अधिकार के अनुसार उपासना के मार्ग बताये जाते थे और उनके माध्यम से आंतरिक शुचिता के संस्कारों को करने का प्रयास किया जाता था।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्मचर्याश्रम में मनुष्य के शरीर, बुद्धि एवं मन का सुयोग्य रीति से विकास होता था। शाश्वत् सुख की प्राप्ति की ओर उसे प्रेरित करने के लिए एवं उसे कर्त्तव्यशील बनाने के लिए उपदेश द्वारा उसके व्यक्तित्व के विकास को गति दी जाती थी। मनुष्य की आवश्यकताओं को देखकर

अनेकविध उपासनाओं का अवलंब करने की शिक्षा दी जाती थी और इस आश्रम में प्राप्त शिक्षा को अपने भावी जीवन में उतारने के लिए प्रेरणा दी जाती थी। श्रीपंढरीनाथ, ह० प्रभु अपनी पुस्तक "Hindu Social Organisation" में लिखते हैं कि—"The Hindu Dharma Shashtras provide various Sadhanas for an individual to cultivate his individuality, in spite of, apart from and yet in the midst of a life pledged to social ideals"

अर्थात् 'सामाजिक आदर्शों के लिए जीवन की प्रतिबद्धता के मध्य तथापि उससे पृथक एवं उसके बावजूद व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अपने हिंदू धर्म शास्त्रों ने अनेक साधनाओं की व्यवस्था की है।'

परिवर्तित समय में व्यवस्था में संशोधन की आवश्यकता—ब्रह्मचर्याश्रम में शरीर, बुद्धि एवं मन पर ये अनुशासन के संस्कार करने के लिए बनी व्यवस्था यद्यपि अतीत काल में प्रभावी रूप से परिणामकारक रही तथापि परिवर्तनशील समय के कारण आज नई समस्याएं उत्पन्न हुई हैं, होना स्वाभाविक भी है। अतः इस व्यवस्था के आधारभूत उद्देश्यों को, जो शाश्वत् मूल्यों पर आधारित हैं, न त्यागते हुए व्यवस्था में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है। यों देखा जाय तो आज उस व्यवस्था में परिवर्तन हुआ है, परन्तु जो शाश्वत् आदर्श हैं उनका विस्मरण होने से और क्षणिक आदर्शों ने—वस्तुतः उन्हें आदर्श कहना आदर्श शब्द का अपमान है—उनका स्थान लेने से छात्र जगत् एक चिंता का विषय बन चुका है।

यद्यपि उपनयन के पश्चात् गुरुकुल निवास ब्रह्मचर्याश्रम में पुरातन समय में विहित था, तथापि उसका विधान केवल तीन वर्णों के लिए—ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए—था। परन्तु शूद्रों पर संस्कार करने का उसमें कोई प्रावधान नहीं था। साथ ही यद्यपि वैदिक एवं पौराणिक साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि महिलाएं सुशिक्षित थीं। तथापि बाद में आयी पीढ़ियों में महिलाओं की शिक्षा की उपेक्षा की गयी। वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट रूप से कहा है कि—

'समं सर्वेषु भूतेषु
तिष्ठंतं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं
यः पश्यति स पश्यति॥' गीता० १३-२७

अर्थात् 'जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में नाश रहित परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है, वही देखता है।' अतः इन दोनों वर्गों के—शूद्रों एवं महिलाओं के—लोगों का आध्यात्मिक एवं भौतिक विकास होना आवश्यक है। पुनः उन्हें अपना विकास करने का समान अवसर प्राप्त होना आवश्यक है; क्योंकि

वे भी समाज शरीर के अभिन्न अंग हैं।

उपनयन संस्कार अब केवल उत्सव संपन्न करने तक ही सीमित रह गया है। गुरु के घर जाकर संस्कार प्राप्त करने की व्यवस्था लुप्त हो गयी है।

अद्यतन पारिवारिक स्थिति—आज समाज में अधिकांश परिवारों की स्थिति बहुत ही चिंतनीय हो गयी है। दारिद्र्य के कारण असंख्य माता-पिता कमाई करने में नित्य व्यस्त रहते हैं, परिणामतः अपनी संतति की ओर वे ध्यान नहीं दे पाते। वे स्वयं भी अशिक्षित रहते हैं। वृत्ति उपार्जन के लिए आवश्यक अति-साधारण प्रौद्योगिक ज्ञान देने का भी अपनी संतति के लिए प्रबंध करना उनके लिए असंभव हो गया है। फिर सुसंस्कार करना तो दूर ही रहा। मध्यम वर्ग के परिवारों में भी शरीर, बुद्धि एवं मन पर संस्कार—सूर्य-नमस्कार, संध्या, स्तोत्र पठन, पौराणिक कथा बताना आदि—अभी तक किये जाते थे। तथापि इस व्यवस्था का भी लोप हो गया है। इस वर्ग के सुशिक्षित माता-पिता अधिक धनोपार्जन में लगे हुए हैं और यह भूल गए हैं कि बालकों पर अच्छे संस्कार करना अपना कर्त्तव्य है। बहुत संपन्न लोग तो विधिनिषेध के समस्त बंधनों को लांघकर धन संचय को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य मान बैठे हैं। फिर संतति की ओर ध्यान देने के लिए उन्हें फुरसत ही कहां? फलतः सुसंस्कारों के अभाव में मन में रिक्त स्थान की पूर्ति सिने संगीत याद करना, गाना, जासूसी उपन्यास पढ़ना आदि द्वारा बाल एवं युवक करते हैं और अपना मन बहलाते हैं। इन सब कारणों का एक अपरिहार्य परिणाम आज सुस्पष्ट रूप से दृग्गोचर होता है कि मानसिक उच्छृंखलता बढ़कर गलत बातों की ओर बाल एवं युवकों की प्रवृत्ति बढ़ी है।

संपत्ति की व्याख्या—माता-पिताओं से यदि यह प्रश्न पूछा गया कि संपत्ति की व्याख्या क्या है, तो वे तुरन्त उत्तर देंगे कि 'पैसा, जमीन, जायदाद ही संपत्ति है।' यह सम्पत्ति है अवश्य, परन्तु निर्जीव है, अचेतन है, अतएव उसकी अपनी कोई प्रेरणा नहीं। यदि वह एक ही स्थान पर रखी रही तो दूसरे स्थान पर जाने में भी असमर्थ रहती है; फिर अपनी वृद्धि करने की क्षमता उसमें नहीं होती। अतः वास्तविक संपत्ति है अपनी संतति जो सजीव, सचेतन है और अपनी प्रेरणा से काम करती है और इसलिए अपना विकास करने की क्षमता रखती है। इस सचेतन सम्पत्ति पर—संतति पर—यदि ठीक प्रकार से संस्कार किया गया तो अचेतन सम्पत्ति के—द्रव्य आदि के—अभाव में वह उसकी कमाई कर सकती है, वह होने पर उसकी वृद्धि कर सकती है और परमार्थ कर अपना जीवन कृतार्थ कर सकती है। पुनः इस सचेतन सम्पत्ति पर—अर्थात् संतति पर—ठीक प्रकार से संस्कार न किये गये तो व्यक्ति के पास जो भी अचेतन सम्पत्ति हो उसको नष्ट करने की ओर ही वह सचेतन सम्पत्ति अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करेगी और स्वयं का भी अधःपतन करेगी। स्पष्ट है कि अचेतन सम्पत्ति के लिए अधिक प्रयास

करने की अपेक्षा सचेतन सम्पत्ति की ओर ध्यान देना, उसे सुसंस्कृत करना, व्यक्ति एवं राष्ट्र के लिए कल्याणकारक होगा।

'पूत कपूत तो क्यों धन संचय ?
पूत कपूत तो क्यों धन संचय ?

यह किसी कवि की उक्ति कितनी सार्थक है।

भगवान श्रीकृष्ण ने तो अचेतन को सम्पत्ति माना ही नहीं। 'समलोष्टाश्मकांचन' यह उन्होंने ज्ञानी पुरुष का वर्णन किया है। याने उनकी दृष्टि में मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोने की कीमत एक सी है। सम्पत्ति की व्याख्या करते समय सचेतन को ही वे सम्पत्ति मानते हैं और भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में उसे दैवी और आसुरी ऐसे दो भागों में विभाजित करते हैं। दोनों के लक्षणों को विस्तृत रूप से बताते समय निःसंदिग्ध शब्दों में स्पष्ट करते हैं कि—

'दैवी संपद् वियोक्षाय
निबंधाबासुरी मता।'

अर्थात् 'दैवी संपत्ति मोक्षकारण है और आसुरी बन्धनकारक है।' इस दैवी संपत्ति का, जिसे 'अभयं, सत्वसंशुद्धिः' आदि गुणों से वर्णन करते हैं, संगोपन एवं संवर्धन समाज में हों इसके लिए प्रयास होना नितांत आवश्यक है।

निर्धन लोगों की शिक्षा का प्रबन्ध—जिनके सम्मुख दो समय भोजन की समस्या है वे इस दृष्टि से सचेतन सम्पत्ति हर संस्कार करने में असमर्थ हों तो उनकी समस्या समझ में आ सकती है। सारे समाज पर और विशेष रूप से उनकी संतति पर संस्कार करने का दायित्व आचार्यों का तथा शासन का है जिसका समावेश आचार्य धर्म में राजधर्म में है। यह हमारे धर्म द्वारा दी हुई व्यवस्था है। ये दोनों अपने कई संस्कार करने में अपूर्ण रहते हैं और इसलिए दोनों का परस्पर-पूरक होना अर्थात् परस्परानुकूल होकर पारस्परिक सहयोग से इस समस्या को सुलझाने का प्रयास करना नितांत आवश्यक है। इस संबंध में विधि निषेध व्यवस्था एवं क्रियान्विति का दसवें प्रकरण में अधिक विस्तृत रूप से विचार किया जायेगा। आज शासन ने निःशुल्क शिक्षा का दायित्व अपनाया है। यह प्रशंसनीय है। तथापि बहुत कम मात्रा में बालक शिक्षा पा रहे हैं।

मध्यम एवं सधन लोगों की शिक्षा का प्रबंध—मध्यम वर्ग की एवं संपन्न लोगों की संतति पर संस्कार करने का दायित्व माता-पिताओं को स्वयं ही अपनाना चाहिये। पाठ्यक्रम के अध्ययन के लिए छात्रों को जितना समय लगता है उतना छोड़कर शेष समय में संतित के सहवास में रहकर उसे माता-पिताओं द्वारा संस्कारित किया जाना चाहिए। आवश्यकता से अधिक धन कमाने में जो बालक व्यस्त हैं उनका यह कर्त्तव्य है कि अधिक धन कमाने की अपेक्षा वे अपनी संतित पर सुसंस्कार करने के लिए उस समय का उपयोग करें। उस दृष्टि से

असावधानी बरतना एक कर्त्तव्यच्युति है, पाप है।

जीवन निर्वाह के स्तर के उन्नयन के साथ आचार एवं विचार का स्तर उच्च होना आवश्यक—परंतु आज हम यह अनुभव करते हैं कि साधारण मनुष्य के लिए यह विवेक करना असंभव हो गया है कि आवश्यकता की सीमा कहां समाप्त होती है और विलास की सीमा कहां प्रारम्भ होती है। जीवन निर्वाह का स्तर (Standard of living) ऊंचा करने की भाषा का जो अत्यधिक उपयोग राजनीतिक नेताओं द्वारा किया जा रहा है उसके सतत एवं साग्रह प्रयोग से ये लोग बहुत प्रभावित हैं। परिणामतः उनकी आवश्यकताओं का दायरा बढ़ता जा रहा है। यों भी मनुष्य में कामना पूर्ति की तीव्र अभिलाषा जन्मजात रहती है और उस पर राजनीतिक नेताओं का यह विषाक्त प्रचार। "करेला और नीम चढ़ा।" जीवन में विचार एवं आचार का स्तर ऊंचा उठाने की कोई बात भी नहीं करता। परिणामतः विधिनिषेध के बंधनों का उल्लंघन कर भी जीवन निर्वाह का स्तर उन्नत करने की ओर प्रवृत्ति बढ़ रही है। भौतिक एवं विषय वासनाओं की तृप्ति का ही दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है। इसका यह अर्थ नहीं कि जीवन-निर्वाह का स्तर उन्नत करने की नीति का यहां सर्वथा निषेध अभिप्रेत है। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति को निवास के लिए घर, पहनने के लिए कपड़े और क्षुधा शांति के लिए पेट भर भोजन मिलना ही चाहिये। इस दृष्टि से समुचित व्यवस्था हो इसके लिए अर्थशास्त्रविदों को विचारपूर्वक अपनी योजनाएं बनानी चाहिये और शासकों को उन्हें क्रियान्वित करने का प्रयास करना चाहिये। अतः स्पष्ट है कि केवल जीवननिर्वाह का स्तर उन्नत करने की भाषा का प्रयोग न हो, अपितु विचार एवं आचार का स्तर उन्नत करने की भाषा का भी आग्रहपूर्वक प्रयोग किया जाय—अर्थात् विधिनिषेद की व्यवस्था का पालन करने का साग्रह प्रतिपादन हो, अन्यथा इसके भयंकर परिणाम होने लगते हैं और उसी के परिणाम-स्वरूप अपराध करने की प्रवृत्ति एवं भीषण आर्थिक विषमता राष्ट्र में उत्पन्न होती है।

पाठशालाओं में आत्मीयता का अभाव—गुरुकुल के स्थान पर आज बहुत बड़ी पाठशालाएं बनी हैं जहां प्रत्येक कक्षा में पचास और उससे भी अधिक संख्या में छात्र पढ़ते हैं। आखिर शिक्षक की क्षमता की भी अपनी मर्यादा होती है। अतः जहां एक कक्षा में इतनी अधिक मात्रा में छात्रों की संख्या रहेगी वहां प्रत्येक छात्र से व्यक्तिगत संबंध प्रस्थापित कर उस पर संस्कार करना शिक्षक के लिए कैसे संभव होगा ? बिना समुचित प्रबंध किये शिक्षा प्रसार की इस तीस वर्ष की जल्दबाजी के परिणामस्वरूप अब वे ही छात्र शिक्षक बने हैं जो इतनी बड़ी संख्या वाली कक्षाओं में शिक्षा प्राप्त करते रहे। अतः अध्यापन की क्षमता बहुत ही कम अध्यापकों में पायी जाती है। इसमें कुछ अपवाद हो सकते हैं। परन्तु अधिकतर

शिक्षा संस्थाएं केवल उत्पादनशालाएं (factories) बनी हैं जिनमें अधकच्चा माल उत्पादित किया जा रहा है।

छात्रवासों में भी निवास करने वाले छात्रों की संख्या बहुत अधिक होने से व्यक्तिगत संबंधों द्वारा आत्मीयता उत्पन्न कर संस्कार करना छात्रावासों के पर्यवेक्षकों के लिए कठिन हो गया है। आदर्श आचार्यों एवं पर्यवेक्षकों का अभाव ही है। यह भी सच है कि बढ़ती महंगाई से वृत्ति निर्वाह के लिए पर्याप्त मात्रा में धन प्राप्ति करना आवश्यक होने के कारण अर्थ प्राप्ति के लिए अन्य स्रोतों का अवलंब उन्हें करना पड़ता है। परिणामतः छात्रों पर संस्कार करने के लिए जितने प्रयास उनके द्वारा किये जाने चाहिए, उतने वे कर नहीं पाते। जो भी हो, व्यक्तिगत सम्बन्धों का अभाव एवं उसके परिणामस्वरूप आत्मीयता के अभाव के कारण संस्कार करने की उनकी क्षमता क्षीण हो जाती है। 'आचार्यदेवो भव' यह मंत्र केवल कंठस्थ करने से कोई लाभ नहीं होगा। व्यक्तिगत सम्बन्ध बढ़ाकर स्वयं ज्ञानोपासना एवं सदाचरण कर अध्यापन करते हुए ही आचार्य अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर सकेंगे। भगवान् श्रीकृष्ण ने आचार्य एवं छात्रों के दायित्व का वर्णन किया है कि—

'तद्विद्धि प्रणिपातेन
परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं
ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः।।' गीता ४-३४

अर्थात् 'वह ज्ञान (किस विधि से प्राप्त होता है वह) तू जान। आचार्य को प्रणाम करने से, प्रश्न करने से और (उनकी) सेवा करने से (प्राप्त होता है) वे तत्त्वदर्शी ज्ञानी (आचार्य) तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे। याने जहां एक ओर छात्रों से नम्रता एवं सेवाभाव की अपेक्षा है वहां दूसरी ओर आचार्य भी तत्त्वदर्शी एवं ज्ञानी होना आवश्यक बताया है।

अच्छे न्यायों का दुरुपयोग—पुनः न्यूनतम परिश्रम एवं अधिकतम लाभ के आर्थिक सिद्धांत का विपरीत अर्थ कर शिक्षा क्षेत्र में जहां एक ओर छात्रों द्वारा अध्ययन न करते हुए केवल नकल कर प्रमाणपत्र प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है वहां दूसरी ओर संस्थागत निष्ठा (espirit de corps) के सैनिक क्षेत्र के सिद्धांत का विपरीत अर्थ कर अपने विद्यालय अथवा महाविद्यालय के परिणाम अच्छे निकले इसलिए अपनी संस्था के छात्रों को नकल करने के लिए अध्यापक अवसर देते हैं। यह भी चिंता का विषय है।

राजनीति से विकृति—अपरंच राजनीति (वस्तुतः स्वार्थनीति) ही आज दुर्भाग्य से सारे जीवन पर सर्वत्र छायी हुई है। अतः राजनीतिक नेता—चाहे वे शासकीय दल के हों अथवा विपक्ष के—उचित-अनुचित साधनों में विवेक किये

बिना उनका प्रयोग कर छात्रों की अनुचित मांगों का भी समर्थन करते हुए छात्रों की शक्ति का अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए दुरुपयोग करते हुए दिखते हैं। राजनीतिक कार्यप्रणाली भी तात्विक शिक्षा के प्रचार के बदले आंदोलनात्मक बनी है। अतः असंतोष, प्रक्षोभ एवं द्वेषभाव ही बढ़ाया जाता है। छात्र जगत् इससे अस्पष्ट कैसे रह सकेगा? अतः वह भी उसका शिकार बना है। पुनः उनकी मांगों की पूर्ति के अभाव से जनित आंदोलन के उग्र रूप धारण किये बिना शासक एवं शासकीय कर्मचारी—इनमें शिक्षकों का भी समावेश है—छात्रों की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास नहीं करते। परिणामतः कटुता और मनोमालिन्य बढ़ते हैं। कुछ अपवाद छोड़ दिए तो अधिकांश राजनीतिक नेताओं का जीवन आदर्श नहीं हैं। अतः समाज और विशेष रूप से जगत् इससे दुष्प्रभावित होता जा रहा है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि जीवन-निर्वाह का स्तर ऊपर उठाने के साथ ही विचार एवं आचार का स्तर ऊपर उठाने का प्रयास किया जाय और उस दृष्टि से योजना बनायी जाय।

विशिष्टीकरण के साथ सब विषयों का सामान्य ज्ञान आवश्यक—आज जो पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाता है उसका भी संक्षेप में विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। प्राचीन काल में यद्यपि हमने, आज की अन्य राष्ट्रों की तुलना मे भी, ध्वनि शास्त्र में अत्यधिक प्रगति कर स्वर एवं व्यंजन के उच्चारण के स्थान के अनुसार उनका वर्गीकरण किया तथापि लिपि का एवं मुद्रणकला का आविष्कार नहीं हुआ था। अतः समस्त विद्याएं कंठस्थ करनी पड़ती थीं। उन दिनों ज्ञान की जैसे-जैसे प्रगति हुई वैसे-वैसे सबके लिए सब विद्याएं कंठस्थ करना असंभव हो गया। फलतः विशिष्टीकरण (Specialization) अपरिहार्य हुआ। उसका परिणाम यह हुआ कि ज्ञान एकांगी हो गया। एक शास्त्र का ज्ञाता दूसरे शास्त्र के बारे में कुछ भी नहीं जानता था। समग्र वेद कंठस्थ करने वाले दार्शनिक विद्या नहीं जानते थे और वैदिक एवं दार्शनिकों के लिए व्यावहारिक जीवन की बातें अज्ञात रहीं। इस नियम में एकाध दूसरा लोकोत्तर व्यक्ति मात्र अपवाद रहता था। अपना यह जो गत एक सहस्र वर्षों पूर्व अधःपतन हुआ उसके लिए इस एकांगी ज्ञान की भी अपनी जिम्मेवारी है। जीवन के अन्य अंगों के अथवा क्षेत्रों के संबंध में, अपने-अपने विषयों के बारे में सोचने वाले लोग उदासीन रहे।

यद्यपि अब लिपि का और मुद्रणकला का आविष्कार होने से ज्ञान का व्यापक प्रसार हुआ है तथापि विज्ञान की तो अब इतनी प्रगति हुई है कि वहां भी विशिष्टीकरण आवश्यक हुआ है, होना स्वाभाविक भी है और उस विषय में प्रभुता पाने के लिए वह होना अपरिहार्य भी है। तथापि ग्यारहवीं कक्षा तक प्रत्येक विषय के सामान्य ज्ञान का अध्ययन करना आवश्यक प्रतीत होता है। परन्तु आज मानविकी (Humanities) एवं विज्ञान (Science) का विभाजित पाठ्यक्रम ९वीं

कक्षा से ही निर्धारित किया जाता है। परिणामतः प्रौद्योगिक (technical) ज्ञान प्राप्त करने वाले छात्र मानविकी इतिहास, भूगोल आदि अन्य सामाजिक विषयों— के बारे में कुछ भी ज्ञान नहीं पाते और मानविकी ज्ञान के छात्र भी, जो केवल इतिहास विषय अध्ययन के लिए चुनते हैं, भूगोल में इतने अज्ञ रहते हैं कि अपने ही देश की सामान्य स्थिति भी नहीं जानते। अन्य विषयों का अज्ञान इतना भयावह है कि एक एम० बी० बी० एस० उत्तीर्ण और शासकीय सेवा में नियुक्त डॉक्टर की यह धारणा पायी गयी कि ओरिसा बिहार की राजधानी है! विश्वास करो अथवा मत करो, ऐसी स्थिति है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। भूगोल का थोड़ा-बहुत ज्ञान तो छात्र जैसे-तैसे नित्य व्यवहार में, संभाषणों मे, एवं समाचार पत्रों से भी प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु इतिहास के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। फिर राष्ट्र-भक्ति का जागरण कैसे होगा? उच्च आदर्शों एवं राष्ट्र-भक्ति की प्रेरणा वे कैसे पा सकेंगे? जिस जनतंत्र को— आज उपलब्ध अधिकतम अच्छी शासन पद्धति को—हमने अपनाया है, उसके मौलिक तत्त्व उन्हें कैसे ज्ञात हो सकेंगे? हम जरा सोचें। उपहास के तौर पर विशिष्टीकरण की एक व्याख्या की जाती है कि—"Specialisation means knowing more and more, about less and less till you know everything about nothing.'

अर्थात् 'विशिष्टीकरण याने ज्ञान का क्षेत्र उस सीमा तक न्यूनतम करते हुए उसके बारे में अधिकतम ज्ञान प्राप्त करना जब तक शून्य की सीमा को पहुंचकर उसके संबंध में समस्त ज्ञान प्राप्त नहीं होता।' सार यह है कि ऐसे छात्र अपने विषय के ज्ञाता होने पर भी व्यवहार में उपहास का विषय बनते हैं। अतः मानविकी एवं विज्ञान का सामान्य ज्ञान ग्यारहवीं कक्षा तक सभी छात्रों के लिए अनिवार्य होना चाहिए। इसके पश्चात् महाविद्यालयीन शिक्षा प्राप्त करने के समय पाठ्यक्रम का विभाजन किया जाय जिससे सभी छात्र प्रत्येक विषय का प्राथमिक एवं सामान्य ज्ञान प्राप्त कर सकें और आगे अपनी-अपनी रुचि एवं पात्रता के अनुसार विषय चुनकर उनमें प्रवीण हो सकें।

दुर्भाग्य से स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् विगत तीस वर्षों में शिक्षा-प्रणाली में भारतीय आदर्शों के अनुकूल कोई भी मौलिक परिवर्तन नहीं हो सका! इसका एक कारण जहां यह है कि शिक्षा नीति का निर्धारण करने वाले नेतृत्व में सही दृष्टि एवं संकल्प का अभाव था, वहीं इसका कारण यह भी है कि शिक्षा संस्थानों के शीर्ष स्थानों पर बैठे हुए आसीन व्यक्ति व्यक्तिगत कैरियर के लोभ में दलीय राजनीति के हाथ का खिलौना बन गये।

विद्यमान छात्र समस्या के लिए सारा समाज जिम्मेवार—इस सारे विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि छात्र-जगत् में आज जो समस्याएं पायी जाती हैं उनके

लिए अल्पमात्रा में छात्र निमित्त हैं, तो कुछ मात्रा में अध्यापक निमित्त और अत्यधिक मात्रा में राजनीतिक नेता एवं माता-पिता निमित्त हैं याने सारा समाज ही जिम्मेवार है, केवल छात्र अथवा अध्यापक ही नहीं। क्योंकि गुरुकुल निवास की व्यवस्था लुप्त हो गयी है और इसलिए संतति परसंस्कार करने का दायित्व—कम-से-कम विद्यालयीन कक्षाओं तक—माता-पिता पर विशेष रूप से आया है और अधिकांश छात्रों की संस्कार क्षम आयु घर में ही व्यतीत होती है। साथ ही राजनीतिक नेता एवं शासन भी जिम्मेवार हैं क्योंकि पाठ्यक्रम निर्धारित करने का दायित्व शासन ने अपने अधिकार में रखा है।

दुर्भाग्य से अपने यहां पिछले तीस वर्षों में भारतीय आदर्शों से अनभिज्ञ लोगों अथवा राजनीतिक नेताओं को ही शिक्षा मंत्री बनाया गया। विद्यापीठों में जो उपकुलगुरु नियुक्त किये गए वे प्रायः निर्वाचन में पराजित शासकीय दल के विचारों से प्रतिबद्ध (committed) लोग ही रहे। अतः शिक्षा क्षेत्र भी राजनीति से प्रभावित हो गया। वस्तुतः अपने आदर्शों के ज्ञाता शिक्षाविदों पर यह शिक्षा विभाग अथवा उपकुलगुरु का दायित्व रहना श्रेष्ठ होता। वैसी योजना न होने से आज हम यह अनुभव करते हैं कि शिक्षा विभाग में मंत्रियों द्वारा जितने स्वच्छंद प्रयोग किए गए उतने संभवतः और किसी मंत्रालय द्वारा नहीं किये गये। शिक्षा मंत्री बदलते ही उसके भिन्न छंद के अनुसार शिक्षा में अथवा पाठ्यक्रम में परिवर्तन किये गये। संभव है कि यह जनतंत्रवाद में ही दोष हो। परंतु गहराई में जाकर चिंतन कर उचित निर्णय लेने की क्षमता का अभाव ही उससे प्रमाणित होता है।

अपने आदर्श-शरीर, बुद्धि एवं मन पर संस्कार करना—पुनः आज जो शिक्षा दी जा रही है वह केवल वृत्तांतात्मक (informative) है संस्कारात्मक (formative) नहीं। शरीर, बुद्धि एवं मन पर संस्कार करने की योजना बनाना अपना आदर्श है। इसलिए उस दृष्टि से योजना बनाकर उसे क्रियान्वित करना चाहिए।

(१) शरीर पर संस्कार—यों देखा जाय तो व्यायामशालाओं के निर्माण एवं खेलकूद के लिए अनुदान प्राप्त कर कई विद्यालयों में व्यायाम करने की दृष्टि से प्रबध किया गया है परंतु व्यायामशालाएं निर्जन रहती हैं। कोई भी वहां व्यायाम करने नहीं जाता। वस्तुतः माता-पिताओं ने उस दृष्टि से संतति से आग्रह करें और माता-पिता एवं शिक्षक स्वयं व्यायाम करें व आत्मीयतापूर्वक छात्रों को प्रेरित करें तो निःसंदेह काफी मात्रा में छात्र व्यायाम करेंगे। यों भी अपने से श्रेष्ठ लोगों का अनुकरण करने की मनुष्य में प्रवृत्ति होती है और विशेष रूप से बाल एवं तरुणों में होती ही है।

पुनः अधिकांश विद्यालयों के पास क्रीड़ांगण नहीं रहते जहां रहते हैं वहां जिन

खेलों के लिए विस्तृत मैदानों की आवश्यकता होती है, वे पाश्चात्य खेल ही खेले जाते हैं। परिणामतः शारीरिक व्यायाम की दृष्टि से खेलने वालों की अपेक्षा केवल नेत्र व्यायाम करने वालों याने देखने वालों की संख्या कई गुना अधिक होती है। व्यायाम करने की दृष्टि से खेलने वालों के साथ ही उनके खेल को देखने वालों के शरीर का भी व्यायाम होता है, यह आज तक किसी अनुसंधानकर्त्ता ने सप्रमाण प्रतिपादन किया हो तो खेल देखने वाले ही जानें ! स्पष्ट है कि देखने वालों के शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उन्हें स्वयं व्यायाम करना आवश्यक है। इस परिस्थित में अपने देश की लोक संख्या का विचार कर अपने यहां के खेलों को यदि प्रोत्साहित किया गया तो उतने ही क्षेत्र में दस गुना अधिक संख्या में छात्र खेल सकेंगे। इससे स्वाभिमान का भी जागरण किया जा सकेगा। शरीर को अनुशासित करने की दृष्टि से प्राथमिक स्वरूप की सैनिक शिक्षा भी दी जानी चााहिए। ताकि सब छात्रों पर पारस्परिक सहयोग से कार्य करने का एवं आज्ञा-पालन का संस्कार हो।

(२) **बुद्धि पर संस्कार**—बुद्धि का सुयोग्य रीति से विकास करने की दृष्टि से छात्रों को अपनी रुचि के अनुसार विषय चुनने के लिए केवल मैट्रिक की परीक्षा के पश्चात् ही अवसर रहे। तब तक जैसा कि पहले बताया गया है सब छात्रों को प्रमुख विषयों का सामान्य ज्ञान हो। उसके अनुसार पाठ्यक्रम निर्धारित करना उचित होगा।

पुनः कक्षाओं की संख्या भी ३०-३२ तक सीमित करना आवश्यक है ताकि छात्रों का गुणात्मक विकास हो सके और उनका एवं अध्यापकों का व्यक्तिगत सम्बन्ध बढ़कर दोनों में पारस्परिक आत्मीयता का सम्बन्ध, जिसके कारण प्रभावी रूप से संस्कार किये जा सकते हैं, बढ़ सके। अधिक विश्वविद्यालयों की स्थापना कर भारयुक्त शिखर वाली (top heavy) व्यवस्था निर्माण करने की अपेक्षा अपने निर्धन देश में उतने ही व्यय में निचले स्तर अर्थात् प्राथमिक शालाओं एवं विद्यालयों की संख्या में, तथा कक्षाओं में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या सीमित कर कक्षाओं की संख्या में वृद्धि की गयी तो एक ओर जहां छात्रों का गुणात्मक विकास हो सकेगा वहां दूसरी ओर अधिक मात्रा में शिक्षक नियुक्त कर शिक्षितों की बेकारी का हम उन्मूलन कर सकेंगे। पुनः मौलिक आधार ठोस होकर बुद्धि का ठीक-ठीक विकास हो सकेगा।

(३) **मन पर संस्कार**—मन पर संस्कार करने के लिए ध्यान-धारणा द्वारा मन को वश में रखने का अभ्यास करवाना चाहिए। एक उच्चतम ध्येय की प्राप्ति के संस्कार मन को एकाग्र करने में सहायक होते हैं। उस दृष्टि से धर्म के मौलिक सिद्धांतों की शिक्षा भी छात्रों को देना नितांत आवश्यक है। राष्ट्र के महापुरुषों की—चाहे वे आध्यात्मिक क्षेत्र में विकास करने वाले एवं समाज को कर्तव्योन्मुख

होने के लिए प्रेरणा देने वाले साधु-संन्यासी हों अथवा राष्ट्र के स्वाभिमान की रक्षा करने वाले एवं राष्ट्र की भौतिक उन्नति करने वाले नरवीर हों—जीवन की घटनाएं छात्रों को ज्ञात करा देने वाले पाठ्यक्रम की आवश्यकता है। उस दृष्टि से हमारा इतिहास जैसा घटा वैसा ही सिखाना नितांत आवश्यक है। इतिहास का ज्ञान छात्रों का स्वाभिमान जागृत करेगा। इन महापुरुषों की जीवनी का अध्ययन छात्रों को उनके जीवन में आने वाले सुख-दुःख के क्षणों में मन का संतुलन न बिगड़ने देते हुए जीवन में अपना मार्ग तय करते समय पाथेय का काम करेगा। उन महापुरुषों ने अपने ध्येय की पूर्ति के लिए जैसे आत्मकठोर कदम उठाये वैसे ही आत्मकठोर बनकर तपस्या करने की छात्रों की प्रवृत्ति बढ़ेगी और स्वयं के व्यक्तिगत जीवन में निर्वाह के लिए अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम रखने में संतोष और समाज में व्याप्त दुःख, दैन्य एवं दारिद्र्य की अवस्था के प्रति असंतोष उत्पन्न होकर छात्र कर्तव्योन्मुख होंगे। राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य का जागरण व्यक्ति-व्यक्ति में होना नितांत आवश्यक है। उस कर्तव्यनिष्ठा के संस्कार इस संस्कार-क्षम आयु में ही मन पर किये जा सकते हैं। दूरदर्शन, आकाशवाणी, सिनेमा, नाटक आदि साधनों द्वारा भी ये संस्कार करने का कार्य किया जा सकता है।

आज हम यह अनुभव करते हैं कि शिक्षा प्राप्त किया हुआ व्यक्ति केवल नौकरी की खोज में रहता है। जीवन में केवल सुरक्षा (security) का विचार करता है। यह भावना इस सीमा तक बढ़ी है कि प्रौद्योगिक (technical) शिक्षा प्राप्त किया हुआ व्यक्ति भी नौकरी चाहता है। कृषि का स्नातक कृषि करने के लिए कीचड़ में उतरने के लिए तैयार नहीं अपितु कुर्सी और विशेषतः सरकारी कुर्सी पर बैठना चाहता है। ताकि आराम, सुरक्षा एवं सम्मान के साथ वह जीवनयापन कर सके। सरकारी कुर्सी के बारे में समाज में एक प्रकार का सम्मोहक आकर्षण (glamour) है। यही स्थिति अन्य क्षेत्रों में यांत्रिकी, वैद्यकीय आदि स्नातकों की है। उसका भी एक कारण है। सरकारी कुर्सी पर आसीन व्यक्ति को आज समाज अधिक सम्मान देता है। लोगों में आत्मविश्वास जागृत करना हो तो समाज के इस दृष्टिकोण में परिवर्तन करना होगा। उस दृष्टि से मन पर संस्कार करने के लिए जो जीवन में सुरक्षा का विचार न करते हुए, साहस के साथ स्वतंत्र जीवनयापन करने के लिए श्रम करते हैं, उन्हें सरकारी कुर्सी पर बैठने वालों की अपेक्षा तत्त्वदर्शी लोगों ने और फलतः समाज ने अधिक प्रतिष्ठा दी याने ऐसे लोगों को छात्रों के सम्मुख आदर्श के रूप में रखा तो स्वतंत्र रूप से श्रम करते हुए व्यवसाय करने की ओर छात्रों की प्रवृत्ति बढ़ेगी और शासन पर बेकारी-उन्मूलन का जो बोझ है वह कम होगा। परंतु यह करने के लिए सर्वप्रथम लायसेंस और परमिट देने की व्यवस्था दूर करनी होगी। इसका यह अर्थ नहीं कि विधिनिषेध के बंधनों का पालन न करने वालों को कोई भी

व्यवसाय करने की अनुमति रहे अपितु कहने का अभिप्राय यह है कि सरकारी अधिकारियों की लायसेंस और परमिट देने में मनमानी न चले। उसी मनमानी के कारण विवश होकर समाज को उनकी योग्यता का विचार किए बिना सामान्य से अधिक उनका सम्मान करना पड़ता है और प्रतिष्ठा की इसी मिथ्या कल्पना से छात्र वर्ग सरकारी कुर्सी की ओर आकृष्ट होता है।

राजनीतिक कुर्सी के प्रति तथा सरकारी कुर्सी के प्रति छात्रों में दिखने वाला सम्मोहक आकर्षण (glamour) तब ही कम होगा जब स्वांतःसुखार्थ जीवन समर्पण करते हुए अपने त्याग से राष्ट्र को सत्कर्म करने की प्रेरणा देने वाले वीत-राग साधु-संन्यासियों, शिक्षा-संस्था के लोगों, समाज में रूढ़ कुरीतियों को दूर करने के लिए शिक्षा देने वाले समाज-सुधारकों और समाज में व्याप्त दुःख, दैन्य, दारिद्रय एवं अज्ञान दूर करने वाले समाजसेवी लोगों को अपने धर्म के व्यापक अर्थ का यदि विचार किया तो ये सब धर्म के कार्यक्षेत्र हैं—सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। इस दृष्टि से सारे समाज को विचार करना होगा।

सारे समाज को ही विचार करना होगा यह लिखने की आवश्यकता इसलिए है कि सामाजिक कार्य करने वाले प्रतिष्ठानों का योगक्षेम एवं संचालन ठीक प्रकार से होने के लिए उनकी आर्थिक समस्या की जितनी चिंता समाज को करनी चाहिए उतनी समाज नहीं करता। फलतः इन सब जीवन समर्पण करने वाले समाजसेवियों को अपनी संस्था की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिए विवश होकर शासन की ओर देखना पड़ता है। शासन के अनुग्रह के पात्र होकर शासन अनुदान दे इसलिए मंत्रियों, सांसदों, विधायकों अथवा सरकारी अधिकारियों की योग्यताओं का विचार किए बिना यानी उन्होंने समाज के लिए कितना त्याग किया इसका विचार किए बिना उन्हें शिलान्यास-उद्घाटन, पारितोषिक वितरण आदि करने के लिए निमंत्रण देना पड़ता है और परिणामतः उनके द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार चलना पड़ता है। हो सकता है शासकीय अनुदान के परिणामस्वरूप आर्थिक समस्या से उन्हें राहत मिलती हो। परंतु इस प्रकार शासकीय आश्रय के सहारे समाजसेवी संस्थाएं चलाना अपने आदर्शों के विरुद्ध है। इस सम्बन्ध में प्रकरण १० में अर्थात् विधिनिषेध व्यवस्था एव क्रियान्विति प्रकरण में अधिक विचार व्यक्त किए गए हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि पूना की डेक्कन एजूकेशन सोसायटी के चार संस्थापक सदस्य थे। (१) लो० तिलक (२) चिपलूनकर (३) आगरकर और (४) संभवतः आपटे। सरकारी अनुदान लेकर संस्था का विस्तार करने का लोकमान्य तिलक को छोड़कर बाकी सबका मत था। परंतु लो० तिलक सरकारी आश्रय से संस्था के संचालन एवं विस्तार के सर्वथा विरुद्ध थे और इसलिए संस्था से त्यागपत्र देकर वे अलग हुए। त्यागपत्र देने के अनेक कारण थे; परंतु यह एक प्रमुख कारण था।

शासकीय अनुदान लेने से उस प्रतिष्ठान की जीवन शक्ति जहां एक ओर क्षीण होती है, वहां दूसरी ओर इन नेताओं का अथवा सरकारी अधिकारियों का दर्प बढ़ता है। इन परिश्रमी एवं लब्धप्रतिष्ठ आचार्यों का तिरस्कार एवं मखौल शासन ने कैसे किया यह हम व्यर्थ लादे गए आपातकाल में अनुभव कर चुके हैं। पुन: योग्यता प्राप्त किए बिना राजनैतिक क्षेत्र में काम करने से सुलभता से प्रतिष्ठा प्राप्त होती है यह विचार परोक्ष रूप से समाज के मन पर अंकित होता है। फिर छात्रवर्ग उससे अप्रभावित कैसे रह सकेगा ?

वस्तुत: ऐसे समाजसेवी प्रतिष्ठानों के कार्यक्रमों के लिए समाज के उस क्षेत्र में कार्य कग्ने वाले लोगों को ही प्रमुख अतिथि के रूप में बुलाना चाहिए। यह तभी संभव होगा जब वे प्रतिष्ठान आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र रहेंगे। तब और तब ही 'सर्वे गुणा मंत्रिणमाश्रयंते' ये विचार छात्रों के मन पर अंकित नहीं होंगे और समाजसेवी ही उनके सम्मुख आदर्श के रूप में रहेंगे। तब और तब ही वे कर्त्तव्योन्मुख होंगे और उनके जीवन में ध्येय के प्रति समर्पण भाव जागृत होगा। अत: राजनीतिक नेताओं की अपेक्षा ध्येय के प्रति जीवन समर्पण करने वालों को अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो इसके लिए समाज को ही विचार करना होगा। तभी छात्रों को कर्त्तव्याभिमुख बनाने के योग्य वायुमंडल हम अपने राष्ट्र में निर्माण कर सकेंगे। और उनके मन पर पवित्रता का, आत्मविश्वास का एवं कष्टमय जीवन-यापन करते हुए प्रतिष्ठा प्राप्त कर अपना एवं राष्ट्र का आत्मिक विकास करने का विचार अंकित होगा।

: ८ :

गृहस्थाश्रम

ऋणत्रय—अपनी यह मान्यता है कि जन्म प्राप्त करते ही मनुष्य पर तीन ऋण होते हैं और इन तीनों ऋणों से अनृणी होना मनुष्य का कर्त्तव्य है। ये तीन ऋण हैं : (१) ऋषि ऋण, (२) पितृ ऋण और (३) देव ऋण। पहला ऋण अर्थात् ऋषि ऋण चुकता करने के लिए आध्यात्मिक एवं भौतिक विद्याओं का अध्ययन करना और अध्यापन करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश पाकर अध्ययन करने के पश्चात् आधे ऋषि ऋण से मनुष्य को मुक्ति मिलती है और अध्ययन करने के पश्चात् उत्तर जीवन में अध्यापन करने से पूर्ण रूप से इस ऋण से मनुष्य मुक्त होता है। इस कर्त्तव्य को ब्रह्मयज्ञ कहा गया है। पितृ ऋण से मुक्ति पाने के लिए पितृ यज्ञ करना यानी पितरों को तर्पण करना और चूंकि पिता ने हमें जन्म दिया अतः स्वयं विवाह कर पुत्र को जन्म देना ताकि अपने पश्चात् पितरों को तर्पण किया जा सके और पितरों को तर्पण करने की शृंखला बनी रहे। इस व्यवहार से पितृ ऋण से मुक्ति मिलती है। देव ऋण से मुक्ति पाने के लिए तीन यज्ञ करने का विधान है। देवों को अग्नि के द्वारा आहुति देना। इसे देवयज्ञ कहा गया। भिन्न-भिन्न आत्माओं की शांति के लिए अन्न देना—काक बलि देना—इसे भूतयज्ञ कहा गया है। और मानव जाति के लिए त्याग करने की दृष्टि से प्रतीक के रूप में अतिथिपूजन करना। इसे नृयज्ञ कहा गया है।

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम्॥

आज के संदर्भ में समाज के दुःख, दारिद्रय, दैन्य एवं रोगों का निवारण करना, समाज में व्याप्त स्पृश्यास्पृश्यता आदि कुरीतियां समाप्त करना, अनाथाश्रम चलाना, प्राकृतिक एवं मनुष्यनिर्मित आपत्तियां आने पर समाज को राहत पहुंचाना आदि सामाजिक कार्य करना यह नृयज्ञ है ऐसा सोचना उचित होगा।

विवाह के आठ प्रकार—ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् यानी अध्ययन समाप्ति के पश्चात् अन्य ऋणों से मुक्ति पाने के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने का प्रावधान है। उस दृष्टि से धर्म द्वारा विहित पद्धति के अनुसार विवाह संस्कार द्वारा कन्या

से विवाह कर अपना परिवार बनाने का प्रावधान है। अपने यहां विवाह के आठ प्रकार बताए गए हैं। (१)ब्रह्म, (२) दैव, (३) आर्ष, (४)प्राजापत्य, (५) आसुर, (६) गांधर्व, (७) राक्षस, (८) पैशाच। रूढ़ि से इनमें से आज सर्वमान्य प्रकार है प्राजापत्य का जिसमें पिता कन्यादान करता है। आंतर्वर्णीय विवाह को भी मान्यता है जिसके दो प्रकार बताए गए हैं (१) अनुलोम और (२) प्रतिलोम। विवाह के समय देवाग्निद्विज सान्निध्य में वर के यह प्रतिज्ञा करने का प्रावधान है कि 'धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरामि' अर्थात् पहले तीन पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ एवं काम—की प्राप्ति करते समय मैं पत्नी का अतिचरण नहीं करता हूं (नहीं करूंगा) अर्थात् इसके बिना धर्म, अर्थ एवं काम प्राप्त नहीं करूंगा। दूसरे परिवार से अपने परिवार में इस प्रकार विवाहबद्ध होकर आने वाली स्त्री की अपने परिवार में समरस होने के लिए मनोभूमिका बने इसलिए पत्नी को संबोधन करते हुए पाणिग्रहण के समय वर कहता है कि—

'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगोऽर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं, त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।।' ऋग्वेद

अर्थात् 'सौभाग्य के लिए मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूं मुझ पति के साथ तू वृद्धावस्था तक जी। भग, अर्यमा, सविता आदि देवों ने गृहस्थाश्रम के (कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के) लिए तुझे मुझको दिया है।' परस्पर एकता स्थापित करने की दृष्टि से लाजा होम के समय पति कहता है कि—

'समंजंतु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा संधाता समुदेष्ट्री दधातु नौ।।' ऋग्वेद

इसलिए विवाह कृत्य आध्यात्मिक माना गया है। पुनः गृहप्रवेश के होम के समय पति कहता है कि—

'अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शंनो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।' ऋग्वेद

अर्थात् 'स्नेहमयी दृष्टिवाली पति को न मारने वाली, प्राणियों को कल्याणमयी (तू) हो। सुमना, उत्साहवती, वीरों को प्रसव देने वाली दिव्य कामना करने वाली (और) हमारे भृत्य एवं पशुओं का कल्याण करने वाली (तू) हो। पति के परिवार में नवोढ़ा को प्रतिष्ठा प्राप्त हो इसलिए गृह-प्रवेश के होम के समय पति यह भी कहता है कि—

'सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव।
ननांदरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु।।' ऋग्वेद

अर्थात 'श्वशुर, सास, ननद एवं देवर के लिए तू सम्राज्ञी हो।' नवोढ़ा स्त्री को साक्षात् लक्ष्मी का स्थान दिया गया। अतः विवाह के पश्चात् पहली बार गृह-प्रवेश करने पर लक्ष्मीपूजन करने की प्रथा है।

दंपति के संबंध में—दोनों में पारस्परिक कलह न हो और दोनों के संबंध मधुर रहें इसलिए मनु मार्गदर्शन करते हैं कि—

अन्योन्यस्याव्यभीचारः
भवेदामरणांतिकः ।
एष धर्मः समासेन
ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः पुनः ।।' म० स्मृ० ९-१०१

अर्थात् 'स्त्री एवं पुरुष के लिए संक्षेप में वह धर्म (विहित) है कि आमरण दोनों एक-दूसरे से अव्यभिचार करें। अर्थात् एकनिष्ठ रहें।'

'तथा नित्यं यतेयातां
स्त्रीपुंसो तु कृतक्रियौ।
यथानाभिचरेतां तौ
विमुक्तावितरेतराम् ।।' म० स्मृ० ९-१०२

अर्थात् 'जिनका विवाह हुआ है (कृतक्रियौ) वे स्त्री-पुरुष यह प्रयास करें कि एक-दूसरे को छोड़कर वे (धर्मार्थ काम विषयक) कोई भी काम न करें।' अर्थात् दोनों को पारस्परिक विश्वास संपादन करना चाहिए। अन्यत्र मनु कहते हैं कि—

'संतुष्टो भार्यया यत्र
भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं
कल्याणं तत्रवे ध्रुवम् ।।'

अर्थात् 'जिस कुल में दोनों एक-दूसरे से संतुष्ट रहते हैं वहां निःसंदेह कल्याण प्राप्त होता है।'

आचार्यों ने पति को पत्नी के स्वामी के रूप में मान्यता दी है। परंतु महाभारतकार ने यहां भी कहा है कि—

'अप्रियोक्तोऽपि दाराणा
न ब्रूयादप्रियं बुधः ।
रतिं प्रीतिं च धर्मं च
तदायत्तमवेक्ष्य च ।।'

अर्थात् 'अपनी रति, प्रीति, एवं धर्म पत्नी के अधीन होते हैं यह स्मरण कर पत्नी ने कटु आलोचना की तो भी ज्ञानी मनुष्य को उसे अप्रिय वचन नहीं करना चाहिए। महाभारतकार यह भी कहते हैं कि—

'न गृहं गृहमित्याहु-
र्गृहिणी गृहमुच्यते ।
गृहं तु गृहिणीहीन
मरण्यसदृशं हि तत् ।।'

अर्थात् ('ईंट पत्थरों से जिसकी जुड़ाई की जाती है) वह घर घर नहीं कहलाता अपितु जिसमें पत्नी है वह घर कहलाता है। जिस घर में पत्नी नहीं वह घर वन जैसा रहता है।' इस प्रतिपादन से पत्नी का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बता कर उसे घर में प्रतिष्ठा दी गई है।

इतना ही नहीं दोनों मिलकर एक इकाई होती है अन्यथा एक अपूर्ण है यह याज्ञवल्क्यजी ने वृहादारण्योपनिषद् में एक सुंदर उपमा देकर बताया है। वे कहते हैं कि—

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्।सहैतावानास यथा स्त्रीपुमा ँ सौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चा भवतां तस्मादिदमर्ध बृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यते एवं ता ँ समभवत्ततो मनुष्या अजायंत।' १-४-३

अर्थात् 'वह (प्रजापति) रममाण नहीं हुआ इसलिए एकाकी प्राणी रममाण नहीं होता। उसने दूसरे के लिए इच्छा की। तब परस्पर संबद्ध स्त्री-पुरुष जिस परिमाण के होते हैं उस परिमाण का वह बना। उसने अपने देह को दो भागों में विभक्त किया। उससे पति और पत्नी हुए। इसलिए स्वयं का शरीर सीप के आधे भाग जैसा रहता है याने जैसे सीप के दो भाग पहले जुड़े हुए रहते हैं और बाद में विभक्त होते हैं, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। अतः यह (पुरुषार्थ) आकाश स्त्री द्वारा पूर्ण किया जाता है। उससे उसका संयोग हुआ। उसके पश्चात् मनुष्य उत्पन्न हुआ।' याने दोनों की मानसिक एकता बतायी। संभवतः इसी अर्धयुगल की—सीप की—उपमा के कारण पत्नी को मनुष्य की 'अर्धांगी' की संज्ञा अपने यहां दी गयी होगी। याने दोनों मिलकर एक ईकाई होती है इस सत्य का प्रतिपादन किया गया है।

विवाह विच्छेद का धर्म ने निषेध किया है। तथापि निम्न स्तर का आचरण करने वाली जिन जातियों में वह प्रथा थी उनके लिए 'शास्त्रा दृढिर्बलीयसी' के न्याय से वह सम्मत रही। आज यद्यपि विवाह विच्छेद को वैध बनाया गया है तथापि विवाह विच्छेद करने वालों को समाज में नहीं के बराबर प्रतिष्ठा है।

अपत्य संगोपन—अपत्यों का संगोपन एवं संवर्धन अपने यहां स्त्री का कर्त्तव्य बताया गया है। मनु कहते हैं कि—

'उपादानमपत्यस्य
जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः
प्रत्यक्षं स्त्रीनिबंधनम्॥'

दूसरी ओर पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह अपत्यों की रक्षा करें और परिवार के

उदर निर्वाह के लिए अर्थार्जन करें। स्पष्ट है कि परिवार को सुचारु रूप से चलाने के लिए दोनों का अपना महत्त्व प्रतिपादन किया गया है। अतः वैषयिक भावना को अथवा मतभेदों को गौण स्थान देकर पारस्परिक सहयोग द्वारा संतति के संवर्धन, संगोपन एवं संरक्षण के कर्त्तव्यों को करते हुए सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने के लिए जीवन में प्रधान स्थान दिया गया।

ईसाई मत—ऊपर किये इस विवेचन से यह समझ में आयेगा कि गृहस्थाश्रम—एक कन्या के साथ विवाहबद्ध होकर अपना परिवार बसाते हुए ऋण मुक्ति के लिए हमारे धर्म द्वारा दिया हुआ एक विधान है। ईसाई मत यह है कि क्योंकि स्त्री से 'अशुद्धि' जुड़ी हुई है अतः शरीर संबंध भी अशुद्ध है, अपवित्र है। उनके अनुयायियों ने इस बात को नहीं स्वीकारा और अपने उपासनापंथ (religion) के विरुद्ध विद्रोह किया। फिर ईसाई आचार्यों ने मनुष्य की कामवासना की तृप्ति की इच्छा की वास्तविकता को अनुभव कर बाद में—अर्थात् उस विद्रोह के परिणामस्वरूप—उसे मान्यता दी। परंतु चूंकि यह मान्य करवाया गया अतः धर्म का बंधन भी शिथिल रहा और अब अधिक शिथिल होता जा रहा है। अपनी इच्छानुसार पति अथवा पत्नी विवाह विच्छेद कर लें यह विचार एवं आचार वहां दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है और ईसाई देश उसे मान्यता दे रहे हैं।

मुस्लिम मत—मुस्लिम समाज में विवाह केवल एकतरफा व्यवहार (contract) माना गया है जिसका विच्छेद पति अपनी इच्छा से कर सकता है और पत्नी को इस संबंध में कोई अधिकार नहीं है।

ऋण मुक्ति के लिए गृहस्थाश्रम भावना बहुत उदात्त—हमने अभी पढ़ा कि हमारी यह मान्यता है कि जन्म से ही मनुष्य तीन ऋणों से ऋणी रहता है और उनसे मुक्ति पाना यह उसका कर्त्तव्य है। इन ऋणों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्याश्रम में अध्ययन करना और गृहस्थाश्रम स्वीकार कर अध्यापन करना याने ब्रह्मयज्ञ करना और पितृयज्ञ, देवयज्ञ भूतयज्ञ एवं नृतज्ञ करना उसके लिए आवश्यक होता है। इन यज्ञों को वह तभी कर सकता है जब वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे अन्यथा वह असंभव है। अतः गृहस्थाश्रम का स्वीकार हमारे धर्मके द्वारा मनुष्य के लिए विहित एक विधान है। कामवासना की तृप्ति, संतति की इच्छा और आर्थिक प्रबंध करना मनुष्य मात्र की प्रवृत्ति है इसका अपने धर्माचार्यों ने अनुभव किया और एक परीवाह (safety valve) के रूप में उन्होंने न केवल विवाह को मान्यता दी अपितु कर्त्तव्य के रूप में उसका विधान किया। इन तीन ऋणों से मुक्ति के कर्त्तव्य को पूर्ण करने के लिए गृहस्थाश्रम को एक पवित्र साधन बनाकर अर्थ, एवं काम की प्राप्ति में संयम बरतने के लिए उन्होंने मनुष्य को प्रेरित किया।

जहां केवल विषयोपभोग के हेतु से वैवाहिक जीवन की ओर देखा जाएगा,

वहां यथासमय भावनाओं पर आधारित मतभेद उग्ररूप धारण कर सामने आयेंगे। फिर संतति के प्रति माता-पिता के नाते जो दायित्व होते हैं वे भी बोझ लगने लगेंगे और परिणामतः कलह उत्पन्न होंगे। अतः यह स्पष्ट है कि प्रेम का आधार विषयवासना नहीं अपितु आत्मीयता एवं उस पर आधारित पारस्परिक सहयोग से कर्त्तव्य के निर्वाह की भावना होनी चाहिए। उस दृष्टि से विषयवासना को और पारस्परिक मतभेदों को गौण स्थान देकर ऋणत्रय से मुक्ति प्राप्त करने हेतु गृहस्थाश्रम का स्वीकार कर धर्मकार्यों को, जिनमें अपनी संतति के संगोपन का भी समावेश है, गृहस्थाश्रम में प्रधान स्थान देने की अपने आचार्यों द्वारा दी गयी व्यवस्था बहुत ही मूलग्राही है। दंपति के सुख के अतिरिक्त समाज के लिए सेवाभाव से उद्यत होने की पहली सीढ़ी संतति सगोपन है यह मनोभूमिका दंपति के सुख-दुःख के क्षणों में अद्वैत भावना का आनंद अनुभव कराती है। 'उत्तर रामचरित्' नामक अपने नाटक में कवि भवभूति ने अपत्य को आनंदग्रन्थि कहा है। उन्होंने कहा है कि—

'अंतः करणतत्वस्य
दंपत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनंदग्रंथिरेकोऽय-
मपत्यमिति कथ्यते ॥'

अर्थात् 'प्रेम का आधार होने से दंपति के अंतःकरण को जोड़ने वाली एक (अनुपम) ग्रंथि को अपत्य कहा गया है।' विषयोपभोग से प्राप्त होने वाला आनंद क्षणिक है परंतु अद्वैत भावना का आनंद स्थायी, बहुत पवित्र एवं उदात्त है। परिणामतः बहुत से शारीरिक एवं मानसिक क्लेशों से दोनों की रक्षा होती है और दोनों मानसिक शांति अनुभव करते हैं। इसीलिए अपने समाज में पागलपन का और आत्महत्याओं का अनुपात अन्य राष्ट्रों की तुलना में बहुत कम है। दंपति की वैषयिक वासना की अपेक्षा आत्मीयता पर आधारित प्रेम की प्रशंसा करते हुए R. M. Maciver एवं C. H. Page ने "Society" नामक ग्रंथ में Truxall and Merill का उद्धरण दिया है कि···"Mutual affection guards against many of the mental and physical tribulations of a complex society."

अर्थात् 'दंपति की पारस्परिक आत्मीयता अनेक गुत्थियों से युक्त समाज की बहुत सी मानसिक एवं भौतिक यातनाओं एवं वेदनाओं से रक्षा करती है।' और आवश्यकतानुसार उन्हें सुसह्य भी करती है। संतति के रूप में ग्रथित यह प्रेम दंपति के लिए वृद्धावस्था में भी अक्षय रस लिए रहता है और इसलिए हम अनुभव करते हैं कि धनार्जन का दायित्व स्त्री द्वारा आज अपनाये जाने के पश्चात् भी दंपति के हृदयों के लिए विश्रामस्थान के रूप में प्रेम आज भी बना हुआ है।

दंपति के पारस्पारिक प्रेम की चरमावस्था का वर्णन करते हुए अपने 'उत्तर रामचरित्' नाटक में भवभूति द्वारा राम के माध्यम से व्यक्त करवायी गयी भावना अन्य समाजों की तुलना में अपना समाज निःसंदेह अधिक मात्रा में अनुभव करता है। उस नाटक में राम कहते हैं—

'अद्वैतं सुखदःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रस:।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते।।'

अर्थात् 'जो सुख एवं दुःख में अद्वैत है, जीवन की सब अवस्थाओं में साथ देने वाला है, हृदय का विश्राम है, वृद्धावस्था में भी जिसका रस नष्ट नहीं होता, और जो समय बीतने पर परिपक्व स्नेह के रूप में स्थित है, वह भद्र प्रेम भाग्यवान् मनुष्य को संयोगवश प्राप्त होता है।'

पारिवारिक धारणा का आधार आत्मीयता—व्यक्ति के अस्तित्व के हेतु उसके माता एवं पिता रहते हैं। उसका संगोपन भी वे ही करते हैं। अत: उनके प्रति बाल्यात् प्रभृत्ति एक स्वाभाविक आत्मीयता होती है। साथ ही उनके प्रति अंत:करण में कृतज्ञता, आदर तथा श्रद्धा भी होती है। इन भावनाओं को दृढ़ करने के लिए धर्म ने विधान किया कि 'मातृदेवो भव। पितृ देवो भव।' यह उपदेश देकर उनकी आज्ञा का पालन करने का धर्म ने विधान किया है। साथ ही अपने सहोदर एवं अन्य बंधु-भगिनियों के प्रति प्रेम-भाव बढ़े यह संस्कार करने के लिए धर्म ने व्यवस्था की। उस दृष्टि से आदर्शभूत पुरुषों की पौराणिक कथाएं बताने का एवं रक्षाबंधन यमद्वितीया जैसे उत्सव संपन्न करने का धर्म ने विधान किया। बड़े भाई के प्रति 'ज्येष्ठो भ्राता पितु: सम:' के संस्कार जहां कनिष्ठ बंधु-भगिनियों पर किये वहां पिता का स्थान कनिष्ठ बांधवों द्वारा दिये जाने के कारण पिता की छत्रछाया के अभाव में कनिष्ठ बांधवों के प्रति पुत्रवत् प्रेम करने का और उनकी शिक्षा आदि के प्रबंध का दायित्व ज्येष्ठ बंधु का है यह संस्कार धर्म ने किया। अर्थात् परिवार के समस्त व्यक्तियों को एकात्मता की अनुभूति कराने के लिए आचार्यों ने धार्मिक बंधनों के सूत्र में सबको गूंथ कर परिवार की धारणा की।

मनुष्य के लिए निकटतम बड़ी इकाई परिवार की होती है; क्योंकि उसमें अत्यधिक मात्रा में एकात्मता का, परस्परपूरकता का अतएव परस्पराश्रयता का वह प्रत्यक्ष अनुभव करता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के गठन में भी परिवार की धारणा ठीक होना सहायक होता है; इतना ही नहीं, परिवार की धारणा ठीक न हो तो व्यक्ति के व्यक्तित्व के गठन में दोष भी उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति का विकास होने के लिए जिस प्रकार प्राथमिक अवस्था में व्यक्ति के लिए अहंभाव होना आवश्यक होता है कि मेरे द्वारा अच्छा कार्य हो, मुझे लोग अच्छा कहें और तदर्थ

मैं शारीरिक बौद्धिक एवं मानसिक शिक्षा प्राप्त कर स्वयं को योग्य बनाऊं, उसी प्रकार से परिवार के विकास के लिए प्रत्येक व्यक्ति में परिवारत्व की भावना होना आवश्यक होता है। परिवार का प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने हित के लिए परिवार के दूसरे व्यक्ति के हित का विचार नहीं करता अपितु समस्त परिवार के हित का विचार करता है। परिवार के एक व्यक्ति को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई तो अपनी प्रतिष्ठा बढ़ी इसलिए उसे उतना आनंद नहीं होता जितना आनंद परिवार की प्रतिष्ठा बढ़ी इसलिए उसे होता है। और परिवार के किसी व्यक्ति का जीवन कलंकित हुआ तो अपना भी जीवन अप्रत्यक्ष रूप से कलंकित हुआ यह विचार उसे उतना अस्वस्थ नहीं करता जितना परिवार की प्रतिष्ठा घटी यह विचार उसे दुःखित करता है। परिणामतः परिवार के सुख-दुःख में, जय-पराजय में, लाभ-हानि में, अपने परंपरागत कुलाचार एवं कर्तृत्व में, परिश्रम एवं त्याग में अतीत की स्मृतियों में और उज्ज्वल भविष्य में, सब एकात्मता की भावना को अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं; परिवार के किसी व्यक्ति के कल्याण के लिए अपनी क्षमता से अधिक करने के लिए उद्यत होते हैं। इसी आत्मीयता की भावना से वस्तुतः परिवार की धारणा होती है। यह आत्मीयता की भावना जितनी अधिक मात्रा में होगी उतनी अधिक मात्रा में परिवार की धारणा ठीक प्रकार से होकर परिवार का विकास होगा। अतः यह धारणा ठीक प्रकार से होने के लिए परिवार के समस्त व्यक्तियों को एकात्मता के सूत्र में ग्रथित करने की आचार्यों की योजना का अभी हमने विचार किया।

परिवार से अधिक व्यापक पारिवारिक परिधि—परिवार की आत्मीयता की परिधि केवल परिवार तक ही सीमित रहे यह धर्माचार्यों ने उचित नहीं समझा। अपना अंतःकरण परिवार से भी अधिक व्यापक बनाने के लिए उन्होंने मार्गदर्शन किया। अपने घर पधारने वाले अतिथियों का हम सम्मान करें और आतिथ्य करें इसीलिए 'अतिथि देवो भव' का पाठ उन्होंने सिखाया। महाभारत के शांतिपर्व में युधिष्ठिर को उपदेश करते हुए भीष्माचार्य ने कहा है कि—

'भृत्यातिथिषु यो भुंक्ते
भुक्तवत्सु सदा सदा।
अमृतं केवलं भुंक्त
इति विद्धि युधिष्ठिर।।' शां० प० म० भा०

अर्थात् 'हे युधिष्ठिर ! भृत्यों तथा अतिथियों को भोजन कराने के पश्चात् (तृप्ति के पश्चात्) जो गृहस्थ सदा भोजन करता है, वह अमृत का ही सेवन करता है; यह तू समझ ले।' अपना कल्याण होने के लिए प्रार्थना करते समय अपने से संबंधित द्विपद (भृत्य) एवं चतुष्पद (पशु) का भी कल्याण होवे 'शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे' यह वेदोक्त प्रार्थना है। जो-जो कर्म हम करते हैं उन-उन कर्मों से

प्राप्त होने वाले फल के सहभागी न केवल हम, अपितु हमसे संबंधित सब लोग एवं पशु भी हों यह व्यवस्था धर्म ने दी है। मनुष्य को अपना अंत:करण कितना व्यापक बनाना चाहिए इसकी मानो न्यूनतम मर्यादा का निर्देश भगवतपूजा के संकल्प में नि:संदिग्ध शब्दों में किया है। संकल्प में हम कहते हैं कि—

'अस्माकं सकुटुंबानां मत्संबंधिद्विपदचतुष्पदसहितानां क्षेमस्थैर्यायुरारोग्यैश्चर्याद्यभिवृद्यर्थं शांत्यर्थं पुष्ट्यर्थं तुष्ट्यर्थं च सकलाभ्युदयावाप्तिकाम:।'

अर्थात् 'मेरे समवेत मेरे कुटुम्ब के और मेरे से संबंधित द्विपद एवं चतुष्पद प्राणियों के क्षेम, स्थैर्य, आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य आदि की वृद्धि के लिए, शांति के लिए, पुष्टि के लिए तथा तुष्टि के लिए मैं सकल अभ्युदय प्राप्त करने की इच्छा करने वाला पूजा करता हूं।' इससे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य जो-जो सकाम कर्म करता है उसके फल के भागी न केवल उसके कुटुम्ब के लोग, अपितु उससे संबंधित दोपाये व चौपाये भी हों यह धर्म का हमें मार्गदर्शन है। याने कोई किसान है तो उसके अधीनस्थ भृत्य दोपाये एवं चौपाये, कोई कारखानेदार है तो उसके अधीनस्थ श्रमिक, कोई वैद्य अथवा डाक्टर है तो उसके रोगी, कोई वकील है तो उसके पक्षकार और विक्रेता है तो उसके ग्राहक का—क्योंकि संबंधित द्विपद में ये सब समाविष्ट हैं—समावेश व्यक्ति के अभ्युदय में अभिप्रेत है। उन सबके अभ्युदय के लिए व्यक्ति को लाभ प्राप्त करना चाहिए। जिस-जिस व्यक्ति से अपना व्यावसायिक संबंध आता है उसके कल्याण के लिए अभिलाषा करनी चाहिए यह व्यवस्था धर्म ने दी। इस व्यवस्था का उल्लंघन न करते हुए कार्य किया तो समाज में पूंजीपति और श्रमिक जैसे आज के कृत्रिम विभाग निर्माण न होकर वर्ग संघर्ष का परिहार करते हुए समाज का एकरस जीवन निर्माण किया जा सकता है।

परिवार विभाजन की व्यवस्था—समस्त परिवार का विचार करते समय व्यक्ति का जो अपना अहंकार होता है उसे थोड़ा मोड़ देना आवश्यक होता है। ताकि व्यक्ति एवं परिवार के बीच टकराव न होकर दोनों में समन्वय हो सके। व्यक्ति द्वारा परिवार के लिए, जो बड़ी इकाई है, अपने सुखों का त्याग, यही वास्तविक शाश्वत् सुख की ओर अग्रसर होने की प्रथम सीढ़ी है। आगे और अधिक व्यापक परिधि के लिए—अर्थात् अपने राष्ट्र के लिए—अपने सुखों को त्यागने की शिक्षा प्राप्त करने की दृष्टि से पारिवारिक जीवन यह एक क्षेत्र है। यह दायरा जितना अधिक व्यापक होगा, उतना अधिक मनुष्य शाश्वत् सुख की ओर अग्रसर होगा। छांदोग्योपनिषद् में कहा है कि—

'यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति।' ७-२-३-१

अर्थात् 'जितना अधिक व्यापक यह आत्मीयता का दायरा होगा उतना अधिक

शाश्वत् सुख की ओर अग्रसर होता है। छोटे दायरे में सुख नहीं।' याने यह दायरा जितना अधिक बड़ा उतना अधिक मनुष्य परमात्मा के निकट पहुंचता है। अतः उस दृष्टि से आगे बढ़ने के लिए परिवार का दायरा यह पहली सीढ़ी है। ऊपर लिखे अनुसार परिवार के सब व्यक्तियों को स्नेह के सूत्र में बांधने के लिए धर्म ने व्यवस्था दी। अर्थात् जिस व्यवहार से दोनों में—व्यक्ति एवं परिवार में—समन्वय होगा उसका विधान किया और जिस व्यवहार से परिवार में विच्छेद होगा उसका निषेध किया। परन्तु अनेक बार यह अनुभव मे आता है कि शिक्षा एवं विधिनिषेध के नियमों द्वारा यद्यपि व्यक्ति को संस्कारित करने का प्रयास किया जाता है तथापि अपेक्षानुसार ऊंचे स्तर तक व्यक्ति ऊपर उठ नहीं सकता। उसकी रुचि, प्रवृत्ति एवं पात्रता भिन्न होती है। उसके स्वभाव एवं अहंकार के कारण वह परिवार के विचारों से मेल नहीं खाता। परिवार एवं व्यक्ति के हित टकराकर कलह होता है। फलतः मनोमालिन्य होकर कटुता उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में दुराग्रह से उन व्यक्तियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध एकत्रित रखा तो वह कटुता और अधिक बढ़ती है। जो कुछ आत्मीयता रही हो वह भी पूर्णरूप से नष्ट हो जाती है। अपने धर्म की विशेषता यह है कि अनिच्छा होने पर किसी व्यवस्था को वह व्यक्ति पर लादना नहीं चाहता, चूंकि लादे गये बंधन व्यक्ति के विकास में कुंठा उत्पन्न करते हैं और कई बार विद्रोह की भावना भी उन लादे गये बंधनों के परिणामस्वरूप जन्म लेती है। पुनः आंतरिक प्रेरणा से किया गया कार्य उसके स्वस्थ आत्मिक विकास में सहायक होता है और आंतरिक प्रेरणा जगाने का उत्कृष्टतम उपाय है यथाधिकार उपदेश करने का। अतः अंतःप्रेरणा जगाने के लिए एवं संपूर्ण परिवार के साथ जो कुछ भी आत्मीयता बची हो वह बनी रहे इसलिए परिवार की संपत्ति का विभाजन कर प्रत्येक व्यक्ति को अपने छोटे परिवार की, जिसमें उसकी सहज आत्मीयता होती है, अलग इकाई बनाने के लिए उसके अधिकार के अनुसार धर्म ने मार्गदर्शन किया कि जहां कहीं व्यक्ति का हित-संबंध परिवार के हित-संबंध से भिन्न है ऐसी प्रतीति होगी वहां उसी समय परिवार की सम्पत्ति का विभाजन हुआ ऐसा मान-कर 'बुद्धिमात्रं विभागः' विभाजन कर देना चाहिए।

विभाजन के लिए उत्तराधिकार के अनुसार धर्म ने व्यवस्था दी और यह व्यवस्था देते समय स्थान-स्थान पर जो परंपरा से रूढ़ियां रूढ़ की गयी थीं उन्हीं को धर्म ने सम्मानित किया। पूर्व में दाय भाग व्यवस्था बनी तो शेष भारत में मिताक्षरी बनी। उसकी भी चार शाखाएं हैं और इन सबके अतिरिक्त केरल में मातृ सावर्ण्य को मान्यता दी गयी।

विषमता दूर करने की व्यवस्था—मनुष्य को अपने कर्त्तव्य के सहारे धर्म की व्यवस्थानुसार अर्थ एवं काम पुरुषार्थ की प्राप्ति करना चाहिए यह हम पढ़ चुके

हैं। धर्म की व्यवस्थानुसार अर्थ एवं काम प्राप्त करने का मनुष्य ने प्रयास किया तो भी उसका यदि असाधारण कर्तृत्व हो तो अधिक संपत्ति का संग्रह उसके पास हो सकता है। पुनः उत्तराधिकार के कारण भी उसके पास पारिवारिक संपत्ति आने से उसकी धन एवं संपत्ति और अधिक बढ़ सकती है। परिणामतः उसकी वासनाएं बढ़ती हैं। और जितनी अधिक वासनाएं बढ़ती हैं उतना अधिक मनुष्य का शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक ह्रास होता है। दूसरी ओर अक्षमता के कारण यदि कोई व्यक्ति जीवन यात्रा के लिए आवश्यक उतना धन अर्जन न कर सका, तो वह भूखा रहता है, रोगग्रस्त होता है और दुःख का अनुभव करता है। याने एक अतिशय भोजन के कारण अपचन से मरता है तो अनेकों को दिनभर में आधा पेट भी भोजन न मिलने के कारण भूख से मरना पड़ता है। एक के पास प्रचुर मात्रा में साधन होने से उसमें उन्माद आता है तो दूसरी ओर अनेक लोग आवश्यकता की पूर्ति के अभाव में स्वाभिमान त्यागकर अपमानित जीवनयापन करते हुए उसके सम्मुख नतमस्तक होते हैं अथवा उसके प्रति ईर्ष्या, मत्सर एवं द्वेष धारण करते हैं। फलतः पारस्परिक संघर्ष होकर समाज का स्वास्थ्य बिगड़ता है। पुनः ये तीनों स्थितियां—उन्माद निर्माण करने वाली, अपमानित जीवनयापन करने को बाध्य करने वाली अथवा ईर्ष्यादि मनोविकार निर्माण करने वाली—व्यक्ति के आत्मिक विकास में बाधक होती हैं। अतः जिनके पास प्रचुर मात्रा में धन है, साधन है उनमें उन्माद न आवे और जो जीवन में दुःखी हैं उन्हें भी राहत मिलकर सुख प्राप्त हो और विषमता दूर होकर समाज का स्वास्थ्य अच्छा रहे इसलिए मनु ने एक आदर्श वचन दिया है। वह चिंतनीय है। मनु कहते हैं कि—

'यावद् भ्रियेत जठरं
तावत्स्वत्वं हि देहिनः।
अधिकं यो भिमन्येत
सस्तेनो दंड मर्हति।।'

अर्थात् 'उदर भरण के लिए आवश्यक उतनी ही संपत्ति पर मनुष्य का अधिकार है। इससे अधिक पर स्वामित्व मानने वाला चोर है, दंडनीय है।' तथापि इस स्तर तक ऊपर उठना जनसाधारण के लिए कठिन है यह भी आचार्यों ने अनुभव किया और इसलिए जनसाधारण के लिए दूसरी पर्यायी व्यवस्था दी कि दान करो। तैत्तरीयोपनिषद् में कहा है कि—

'श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्।
श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्।
भिया देयम्। संविदा देयम्।'

अर्थात् 'श्रद्धा से दो। अश्रद्धा (हो तो भी) से दो। अपने वैभव के कारण दो। लज्जा के कारण (अर्थात् न दूंगा तो लोग मुझे क्या कहेंगे इस विचार से भी क्यों

न हो) दो । भीति के कारण (अर्थात् न दूंगा तो लोग मुझे मारेंगे इस विचार से भी क्यों न हो) दो । ज्ञान से दो ।' परंतु दान करो । इसमें ज्ञान से दान देना यह सर्व-श्रेष्ठ माना गया है चूंकि ज्ञानी पुरुष आत्मौपम्य बुद्धि से दान करता है । उसे दान भी नहीं समझता । दान करने के लिए प्रेरणा देने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'यज्ञो दानं तपश्चैव
पावनानि मनीषिणाम् ।' गीता १८-५

अर्थात् 'यज्ञ, दान एवं तप मनीषियों को पावन करने वाले हैं ।' समाज में उत्पन्न होने वाली विषमता को दूर कर समाज का स्वास्थ्य अच्छा रखने के लिए और व्यक्ति का आत्मिक विकास करने के लिए धर्म ने यह व्यवस्था दी ।

साम्यवादी (Communist) सोचते हैं कि हमारी व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को पूर्वजों से उत्तराधिकार में कुछ भी प्राप्त नहीं होगा और प्रत्येक व्यक्ति को परिश्रम करने पर उचित रूप से पारिश्रमिक भी प्राप्त होगा। अतः कोई भी व्यक्ति अभावग्रस्त नहीं रहेगा । परिणामतः समाज स्वास्थ्य बिगड़ने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होगा । परंतु इस प्रकार की समूहवादी व्यवस्था, संभव है कि धन संग्रह को रोक सकेगी । अकार्य का निषेध करायेगी । परन्तु केवल यह व्यवस्था कर्म करने की प्रेरणा निर्माण करने में असमर्थ होती है । समूहवादी देशों में कर्म करने की प्रेरणा के अभाव का एक रोचक एवं उद्बोधक उदाहरण वहां प्रशिक्षण प्राप्त करने गए और वापस लौटे हुए एक यंत्री (Engineer) मित्र ने बताया । रूस के जो राष्ट्रीय पर्व हैं उन पर्वों के समय पर घर-घर पर ध्वज फहराने का कार्य वहां शासन द्वारा किया जाता है और प्रत्येक घर पर ध्वज दंड लगाने की व्यवस्था बनी हुई है । लोग कुछ भी नहीं करते । शासकीय कर्मचारी आते हैं और ध्वज लगाकर जाते हैं । यह देखने के पश्चात् उसी अपने यंत्री ने रूसियों से कहा कि 'वर्ष प्रतिपदा के दिन ध्वजोत्तोलन करना और दीपावली के दिन अपने घर दीप जलाना ये कार्य हमारे देश में व्यक्ति स्वयं अपनी प्रेरणा से करता है ।' यह सुनकर वे इस कथन पर विश्वास करने को तैयार नहीं थे । यह व्यक्ति का नहीं, शासन का कार्य है, व्यक्ति उसे क्यों करे ? यह उन लोगों का सोचने का ढंग । बात छोटी-सी परंतु कर्म करने का उत्साह नहीं, स्वयं की अपनी प्रेरणा नहीं यह स्पष्ट-तया उससे ध्यान में आता है । हमें यह ठीक-ठीक समझ लेना होगा कि जन-साधारण को कर्म करने की प्रेरणा आखिर उसमें जो सुखप्राप्ति की कामना है, उसी से मिलती है । कामना की पूर्ति न होती हो तो कर्म क्यों करना यह विचार व्यक्ति के मन में उत्पन्न होकर प्रेरणा का अभाव निर्माण होता है । प्रेरणा के अभाव में बलात् कर्म करवाने से फल निष्पत्ति भी कम होगी और व्यक्ति के आत्मिक विकास में कुंठा उत्पन्न होगी । अतः कर्म करने की प्रेरणा शक्ति को

नष्ट करने की अपेक्षा, व्यक्ति को अधिक कर्म कर फल प्राप्त करना और धर्म के द्वारा दान करने की, सत्कार्य करने की प्रेरणा उसके अंतःकरण में जागृत करना अधिक श्रेयस्कर होगा; क्योंकि परिणामतः फल-निष्पत्ति भी अधिक होगी और व्यक्ति का आत्मविकास भी होगा। यही उपदेश की पद्धति अर्जुन को उपदेश करते समय भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनायी है। पहले उसे कर्म करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि—

'नियतं कुरु कर्म त्वं
कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रा च ते
न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ।।' गीता ३-८

अर्थात् 'तू नियत कर्म कर; क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा।' अर्थात् जीवन-यापन करने की कामना द्वारा उसे प्रथम नियत कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं और जैसा कि पहले उद्धृत किया गया है फिर आगे मार्गदर्शन करते हुए कहते हैं—

'यज्ञशिष्टाशिनः संतो
मुच्यंते सर्व किल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा
ये पचंत्यात्मकारणात् ।।' गीता ३-१३

अर्थात् 'यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठपुरुष सब पापों से छूटते हैं। (और) जो पापी लोग अपने लिए पकाते हैं वे तो पाप को ही खाते हैं।' याने जो व्यक्ति स्वकर्मार्जित फल का केवल स्वतः के लिए उपयोग करते हैं वे पापी पाप के भागी होते हैं। अतः स्वकर्मार्जित् फल का केवल स्वयं के लिए उपभोग न करते हुए दूसरों को उसमें भागी बनाना चाहिए। अतः स्वकामनापूर्ति की प्रेरणा द्वारा कर्म करने को प्रवृत्त करना और समाज में पारस्परिक द्वेष, स्पर्धा, ईर्ष्या, मत्सर उत्पन्न होकर समाज का स्वास्थ्य खराब न हो और स्वयं की वासनाओं पर नियंत्रण रहकर आत्मविकास हो इसलिए स्वकर्मार्जित फल का समाज में वितरण, दान, व्रत आदि विधि द्वारा करना यह व्यवस्था अपने धर्म ने दी है।

सब आश्रम परस्पर पूरक

हम दो आश्रमों के संबंध में पढ़ चुके हैं। अब इसके पश्चात् वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम पर विचार किया जाएगा। गृहस्थाश्रमियों के लिए यह विधान किया गया कि 'अतिथिदेवो भव' अर्थात् अन्य तीनों आश्रमों के लोगों का वह आदर करे। परंतु उसके परिणामस्वरूप अन्य आश्रमवासियों का अहंकार न बढ़े

इसलिए मनु कहते हैं कि—

'यथा वायुं समाश्रित्य
वर्तंते सर्वजंतवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य
वर्तंते सर्व आश्रमाः।।'

अर्थात् 'जिस प्रकार वायु के आश्रय से सब जंतु जीवित रहते हैं उसी प्रकार से गृहस्थ के आश्रय से अन्य आश्रमवासियों की जीवनयात्रा पूर्ण होती है।' स्पष्ट है कि सब आश्रमवासियों के मन पर यह भाव अंकित किया गया कि कोई भी आश्रम पूर्ण नहीं। सब परस्पर पूरक हैं अतः सबको परस्परानुकूल होना चाहिए।

: ६ :

वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम

वानप्रस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम का विधान धर्म ने किया है। संन्यासाश्रम की—परमात्मा के प्रति निरपवाद समर्पण की—पूर्व सिद्धता करने की दृष्टि से इस आश्रम का विधान है। यों देखा जाये तो मोक्ष ही हमारे जीवन का अंतिम लक्ष्य होने के कारण पहले दो आश्रम—ब्रह्मचर्याश्रम एवं गृहस्थाश्रम—भी यह अधिकार क्रमशः प्राप्त करने की दृष्टि से बनायी गयी दो सीढ़ियां ही हैं। मनुष्य अपने स्वभावजनित गुणों के अनुसार प्राप्त कर्म का गृहस्थाश्रम में सफलतापूर्वक निर्वाह करने की क्षमता प्राप्त कर सके इस दृष्टि से अपने शरीर, बुद्धि एवं मन को शिक्षा द्वारा संस्कारित करने का विधान ब्रह्मचर्याश्रम में है। गृहस्थाश्रम में अपने स्वभाव-जनित गुणों के अनुसार धर्म द्वारा निर्दिष्ट विधिनिषेध की व्यवस्था का उल्लंघन न करते हुए कर्म कर अर्थ एवं काम की प्राप्ति करते हुए समाज के योग क्षेम के लिए किए गये कर्म द्वारा परमात्मा की पूजा करना और फलतः अपना अंतःकरण शुद्ध करना यह विधान धर्म ने किया है। वानप्रस्थाश्रम में पत्नी, परिवार आदि के संबंध में अनासक्ति धारण करते हुए अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम बनाने का अभ्यास मनुष्य को करना चाहिए यह अपेक्षा है ताकि वह संन्यासाश्रम में प्रवेश पाने का अधिकारी बन सके। वानप्रस्थाश्रम में भी ऋषि ऋण चुकाने के लिए ब्रह्म यज्ञ—अध्यापन जिसमें भौतिक ज्ञान एवं सुख दुःखादि द्वंद्व सहन करने की क्षमता समाज को प्राप्त हो उसके लिए आध्यात्मिक ज्ञान देना भी समाविष्ट है—पितृ ऋण चुकाने के लिए पितृ यज्ञ तर्पण—एवं देव ऋण चुकाने के लिए देव यज्ञ, भूत यज्ञ एवं नृयज्ञ करने का विधान है। नृयज्ञ याने अतिथि पूजन यह पूर्व सूरियों ने विशद किया है। आज के संदर्भ में, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, समाज में व्याप्त दुःख, दैन्य, दारिद्र्य एवं रोगों का निवारण करना, अज्ञान दूर करना, समाज में रूढ़ कुरीतियां—स्पृश्या स्पृश्यता, दहेज प्रथा आदि—समाप्त करने की दृष्टि से प्रचार करना, अनाथाश्रम चलाना, वाचनालय पाठशालाओं का संचालन करना, प्राकृतिक एवं मनुष्य निर्मित आपत्तियों से पीड़ित होने पर समाज

को राहत पहुंचाना आदि सामाजिक कार्यों का नृयज्ञ में समावेश करना उचित होगा।

संन्यासाश्रम— शैशवावस्था में व्यक्ति की आत्मा स्वयं तक सीमित होती है। ब्रह्मचर्याश्रम में उस आत्मा को व्यापक बनाने की दृष्टि से संस्कार किए जाते हैं। गृहस्थाश्रम में सामान्यतया विवेकशील व्यक्ति की आत्मीयता का दायरा परिवार तक व्यापक बनता ही है; परन्तु समाज तक उसे व्यापक बनाते हुए दोनों में समन्वय रखने की दृष्टि से व्यवस्था है। वानप्रस्थाश्रम में घर गृहस्थी से अनासक्ति रखकर आत्मीयता के दायरे को समाज तक व्यापक बनाने का लक्ष्य है। परंतु अपने आदर्शों के अनुसार व्यक्ति को केवल इतना ही ऊपर उठने से संतोष नहीं होता। केवल परिवार, वंश, समाज, देश, राष्ट्र, एवं मानवता तक ही वह अपनी आत्मा का तादात्म्य नहीं चाहता; अपितु समस्त जड़-चेतन, विश्व, खगोल स्थित तारागण, और उनके अंदर और उन सबके परे सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी सर्वज्ञ, अदृश्य से ही अपनी आत्मा का तादात्म्य पाना—अथवा उसमें विलय पाना—अपने जीवन का लक्ष्य बनाये हुए हैं। उस दृष्टि से संन्यासाश्रम का विधान है। व्यक्ति सर्वसंगपरित्याग कर परमात्मा के प्रति आत्मनिवेदन करता है। व्यक्ति को तीनों ऋण चुकाने के पश्चात् ही—याने ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रम एवं वानप्रस्थाश्रम का अनुभव करने के पश्चात् ही—संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहिए ऐसी यद्यपि धर्म ने व्यवस्था दी है तथापि रूढ़ि के अनुसार पात्रता होने पर ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् संन्यासाश्रम ग्रहण करना मान्यता प्राप्त है। 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' अर्थात् 'जिस दिन वैराग्य प्राप्त होगा उसी दिन प्रव्रजन करना चाहिए।' शुक्राचार्य, शंकराचार्य जैसे महात्माओं की गणना इसी अपवाद में है।

कर्मत्याग अनुचित—ऋणत्रय से मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् ही इस आश्रम में मनुष्य प्रवेश करता है। अतः अपने धर्म ने अनेकविध साधनाओं को मान्यता दी है : अतः इस आश्रम में व्यक्तिगत मुक्ति की दृष्टि से साधनारत रहकर व्यक्ति और कुछ न करे तो वैसा करने के लिए वह स्वतंत्र है यह भी हमारी मान्यता है। महाभारतकार कहते हैं कि—

'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे
ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे
आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥'

अर्थात् 'एक व्यक्ति का कुल के हित में त्याग करना चाहिए। ग्राम के हित में कुल का त्याग करना चाहिए। जनपद के—देश के—हित में ग्राम का त्याग करना चाहिए और आत्मा के हित में पृथिवी का त्याग करना चाहिए।' परंतु इस श्लोक

का वस्तुतः इतना ही अर्थ है कि भगवत् साक्षात्कार में पृथिवी बाधक हो तो उसका त्याग करना चाहिए। यदि वह बाधक नहीं—और मनुष्य यदि अनासक्त हो तो बाधक होने का कोई कारण नहीं—तो पृथिवी त्यागने का कोई कारण नहीं। परंतु ऋणत्रय से मुक्ति प्राप्त कर संन्यासी कर्म त्याग कर सकता है यह भी हमारी मान्यता है। याने कर्मत्याग का एकांतिक दृष्टिकोण इस मान्यता में निहित है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'यस्त्वात्मरतिरेव स्या-
दात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्ट-
स्तस्य कार्यं न विद्यते॥' गीता ३-१७

अर्थात् 'जो आत्मा में ही रति वाला है और जो मानव आत्मा में ही तृप्त है तथा जो आत्मा में ही संतुष्ट है उसके लिए कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है।' श्री अरविंद भी कहते हैं कि—

"Every one has the right to throw away this worldliness and choose other worldliness only, and if he finds peace by that choice, he is really blessed. I personally have not found it necessary to do this in order to have peace. In my yoga also, I found myself moved to include both worlds in my perview—the spiritual and the material—and to try to establish the divine consciousness and the divine power in men's heart and earthly life, not for a personal salvation only but for a life divine here. This seems to me as spiritual an aim as any and the fact of this life taking up earthly pursuits and earthly things into its scope can not, I believe, tarnish its spirituality or alter its Indian character."

अर्थात् 'प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वातंत्र्य है कि इस संसार से विमुख होकर वह केवल पारमार्थिक दृष्टिकोण अपनाए और इस दृष्टिकोण को अपनाकर उसे यदि मानसिक शांति प्राप्त होती है तो वह भागवती कृपा से यथार्थतया अनुग्रहित होता है। मुझे अपने लिए मानसिक शांति की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक प्रतीत नहीं होता। मेरे योग में मैंने यह अनुभव किया है कि भौतिक एवं आध्यात्मिक—दोनों—दृष्टिकोणों का समावेश करने की दृष्टि से उद्यम करने के लिए मैं प्रेरित हुआ हूं और यह प्रयास करने के लिए प्रेरित हुआ हूं कि न केवल व्यक्तिगत मुक्ति के लिए अपितु यहां दिव्य जीवन के लिए मानवीय अंतःकरण में और इस ऐहिक जीवन में दिव्य चेतना एवं दिव्य शक्ति के अधिष्ठान का सप्रमाण प्रतिपादन करूं। मुझे

दिखाई देता है कि किसी अन्य आध्यात्मिक ध्येय जैसा ही यह आध्यात्मिक ध्येय है और मेरा यह विश्वास है कि इस जीवन के दायरे में भौतिक आकांक्षाओं का एवं ईप्सितों का समावेश आध्यात्मिक जीवन को न कलंकित कर सकता है और न उसके भारतीय स्वरूप में परिवर्तन कर सकता है।' अतः अपनी व्यक्तिगत साधनाएं करते हुए व्यक्ति को—ऋषि ऋण चुकाने के लिए भले ही न हो—लोक-शिक्षा का कार्य करने के रूप में ब्रह्मयज्ञ करना श्रेयस्कर होगा। 'ज्ञानादेव मोक्ष' यह साग्रह प्रतिपादन करने वाले पूज्यपाद श्री मदाद्य शंकराचार्य ने भी लोक शिक्षा का कार्य अपने जीवन के अंत तक किया यह हम सब जानते हैं।

एकांतिक दृष्टिकोण के दुष्परिणाम—एकांतिक दृष्टिकोण के—फिर वह भले ही किसी भी दिशा में क्यों न हो—भयंकर दुष्परिणाम होते हैं। अपने यहां हुए हैं। अपने यहां गत एक सहस्र वर्षों में अपनी रुचि एवं पात्रता के अनुसार केवल एक ही पुरुषार्थ की प्राप्ति का एकांतिक दृष्टिकोण व्यक्ति ने अपनाया। केवल 'धर्म' का अर्थात् विधिनिषेधात्मक धर्म का, अथवा केवल 'अर्थ' का अथवा केवल 'काम' का, अथवा केवल 'मोक्ष' का लक्ष्य व्यक्ति ने अपने सम्मुख रखा। इस अवधि में कुछ ऐसे असामान्य महर्षि और राजर्षि निःसंदेह हुए जिन्होंने समन्वय का प्रयास किया। परंतु वे केवल इस उपर्युक्त नियम को सिद्ध करने में मानो अपवाद के रूप में थे। इस एकांतिक दृष्टिकोण के कारण व्यक्ति ने अपना व्यक्तिगत ईप्सित (लक्ष्य) प्राप्त किया होगा। परंतु यह दृष्टिकोण वस्तुतः न तर्कनिष्ट है, न अनुकरणीय है। और व्यवहार में तो हम यह देखते हैं कि इस एकांतिकता के दृष्टिकोण ने हमें चारों कोने चित्त किया है। हमारा गत एक सहस्र वर्षों का इतिहास एवं हमारी आज की दैन्यावस्था इस वस्तुस्थिति का स्पष्ट प्रमाण है। यह एकांतिकता का दृष्टिकोण निरी विकृति है। इस दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप एक ओर जहां सामान्य व्यक्ति ने वैयक्तिक वासनाओं की पूर्ति के लिए धर्म की अवहेलना कर समाज को हानि पहुंचायी वहां दूसरी ओर मुमुक्षु व्यक्ति ने वैयक्तिक मुक्ति की कल्पना में साधनारत रहकर समाज हित से विमुख होते हुए समाज का अज्ञान दूर करने का प्रयास नहीं किया। परिणामतः राष्ट्रजीवन उध्वस्त हुआ और राष्ट्र का व उसके साथ अपरिहार्यतया व्यक्ति का भी अधःपतन हुआ।

समन्वयात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता—अतः स्पष्ट है कि समन्वय की आवश्यकता है। धर्म की व्यवस्थानुसार अर्थ एवं काम की प्राप्ति के लिए प्रयास करने का दृष्टिकोण जनसाधारण द्वारा अपनाया जाना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है धर्म की व्यवस्थानुसार अर्थ एवं काम की प्राप्ति जनसाधारण करें इस प्रकार की शिक्षा—अपनी साधना का एक अविभाज्य अंग मान कर—समाज को देते हुए मुमुक्षुओं द्वारा लोक संग्रह करने के लिए प्रयास करना। आखिर मुमुक्ष व्यक्ति में मुमुक्षा उत्पन्न होने के लिए धर्म के ही संस्कार कारण बनते हैं। अतः

उस धर्म की ओर—याने व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं मानवता की धारणा ठीक प्रकार से करने वाली व्यवस्था की ओर दुर्लक्ष्य कर केवल अपनी साधना करने की अपेक्षा लोगों में मुमुक्षा उत्पन्न हो इस हेतु से धर्म जागरण करने की दृष्टि से लोगों को उनके अधिकार के अनुसार उपदेश देने का प्रयास करना श्रेयस्कर होगा। ऋषि ऋण चुकाने के लिए भले ही न हो, तो भी अपने धर्म के प्रति, अपने ऋषियों के प्रति कृतज्ञता की अभिव्यक्ति के रूप में यह धर्म जागरण का प्रयास संन्यासियों को भी करना आवश्यक है। अर्थात् जनहित सिद्धि यह भी मुमुक्षु की साधना का प्रभावी अंग हो। तब और तब ही व्यक्ति एवं राष्ट्र परस्परानुकूल होकर अपने-अपने ईप्सित को प्राप्त करने में सफल होंगे। तब और तब ही समाज का स्वास्थ्य न बिगड़ने देते हुए एक ओर जहां जनसाधारण अर्थ एवं काम की प्राप्ति करते हुए अपने आत्मिक विकास की ओर अग्रसर हो सकेगा वहां दूसरी ओर मुमुक्षु के लिए भी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा। तब और तब ही 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' यह संतवाणी अपने जीवन में भी चरितार्थ होगी। स्पष्ट है कि राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति करने के लिए ज्ञानकर्म समुच्चय की आवश्यकता है। अभ्युदय एवं निःश्रेयस ये दोनों जीवन रूपी सिक्के के अंग हैं।

दार्शनिक आधार—ईशावास्योपनिषद् में कहा है कि—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि
जिजीविवेच्छत् शतँ समाः।

अर्थात् 'कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करे।' और आगे कहा है कि—

'अंधं तमः प्रविशंति
येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो
यऽविद्यायाँ रताः॥' ९

अर्थात् 'जो (केवल) अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं वे घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं और (जो) विद्या (उपासना) में ही रत हैं वे मानो उससे भी अधिक अंधकार में प्रवेश करते हैं।' याने एकांतिकता के दुष्परिणाम होते हैं।

'अन्यदेवाहुर्विद्यया-
न्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां
ये नस्तद्विचचक्षिरे॥' १०

अर्थात् 'विद्या से और ही फल बतलाया गया है और अविद्या से और ही फल बतलाया गया है ऐसा हमने बुद्धिमान लोगों से सुना है जिन्होंने हमारे प्रति उसकी व्याख्या की है।'

'विद्यां चाविद्यां च
यस्तद्वेदो भय ँ् सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा
विद्ययामृतम श्नुते ।।' ११

अर्थात् 'जो विद्या और अविद्या इन दोनों को ही एक साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमरत्व प्राप्त करता है।

कर्म की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन से कहा है कि—

'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं
त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं
वर्त एव च कर्माणि ।।' गीता ३-२२

अर्थात् 'हे पार्थ ! मेरे लिए तीनों लोकों में कोई कर्त्तव्य नहीं है। जो मुझे प्राप्त नहीं हुआ वह प्राप्त करना है ऐसी भी बात नहीं। तथापि मैं कर्मरत हूं।'

'यदि ह्यहं न वर्तेयं
जातु कर्मण्यतंद्रितः।
मम वत्मानुवर्तते
मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।' गीता ३-२३

अर्थात् 'क्योंकि मैं यदि असावधान हुआ कदाचित् कर्म में न बरतूं (तो) हे अर्जुन ! सब प्रकार से मेरे बर्ताव के अनुसार मनुष्य बरतते हैं अर्थात् बरतने लग जाय।'

'उत्सीदेयुरिमे लोका
न कुर्यां कम चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्या-
मुपहन्यामिमाः प्रजाः।।' गीता ३-२४

अर्थात् 'यदि मैं कर्म न करूं (तो) यह सब लोग भ्रष्ट हो जायं और (मैं) वर्णसंकर करने वाला होऊं (तथा) इस सारी प्रजा को हनन करूं अर्थात् मारने वाला बनूं।'

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो
यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथसक्त-
श्चिकीर्णुर्लोकसंग्रहम्।।' गीता ३-२५

अर्थात् 'हे भारत ! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानी जन जैसे कर्म करते हैं वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान् भी लोक शिक्षा को चाहता हुआ कर्म करे।'

इन समस्त आप्तवचनों से यह स्पष्ट होता है कि न केवल अभ्युदय के लिए अपितु मोक्ष प्राप्ति के लिए भी कर्म करना आवश्यक है।

जीवन्मुक्त व्यक्ति के लक्षण—सारे बंधन टूटकर जो व्यक्ति परमात्मा से तादात्म्य पाता है उस व्यक्ति को जीवन्मुक्त कहा गया है। उसे पूर्वजन्मकृत केवल उन कर्मों के फलों को इस जीवन में भोगना पड़ता है जिनके फल की प्राप्ति का प्रारंभ हो जाने से उसे जन्म लेना पड़ा। प्रक्षिप्त बाण जैसे तूणीर में वापस नहीं आ सकता वैसे ही जिन कर्मों का फल मिलना प्रारंभ हो चुका है उन कर्मों के फलों को उसे भोगना ही पड़ता है। परंतु जिन कर्मों के फलों की प्राप्ति प्रारंभ नहीं हुई है, उसके द्वारा पूर्वजन्म में एवं इस जन्म में किए गए उन कर्मों के फलों को भोगने के लिए उसे पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता; क्योंकि अग्नि के दाह से दग्ध बीज जैसे निष्फल होते हैं वैसे ही ज्ञानाग्नि के कारण उसके सारे कर्म निष्फल हो जाते हैं।

जीवन्मुक्त व्यक्ति के लक्षण संक्षेप में बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा
न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु
मद्भक्तिं लभते पराम्॥' गीता १८-५४

अर्थात् 'सच्चिदानंद ब्रह्म में एकीभाव से स्थित हुआ प्रसन्नचित्त पुरुष न (तो किसी वस्तु के लिए) शौक करता है न (किसी की) आकांक्षा ही करता है (एवं) सब भूतों में समभाव हुआ मेरी पराभक्ति को प्राप्त होता है।'

भक्त्या मामभिजानाति
यावान्यश्चास्मि तत्वतः।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा
विशते तदनंतरम्॥' गीता १८-५५

अर्थात् '(उस) पराभक्ति के द्वारा मेरे को तत्त्व से भली प्रकार से जानता है (कि) मैं जो और जिस प्रभाव वाला हूं (तथा) उस भक्ति से मुझको तत्त्व से जानकर तत्काल (ही) मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

'सर्वकर्माण्यपि सदा
कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति
शाश्वतं पदमव्ययम्॥' गीता १८-५६

अर्थात् 'मेरे परायण हुआ निष्काम कर्म वाला व्यक्ति संपूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परम पद को प्राप्त करता है।'

: १० :

विधिनिषेध व्यवस्था एवं क्रियान्विति

विधिनिषेध व्यवस्था की आवश्यकता—परिवार की धारणा ठीक प्रकार से होने के लिए जिस प्रकार व्यक्ति को अपने स्वार्थ एवं अहंकार को थोड़ा मोड़ देना आवश्यक होता है उसी प्रकार से समाज की धारणा ठीक प्रकार से होने के लिए व्यक्ति तथा परिवार को अपने स्वार्थ एवं अहंकार को मोड़ देना आवश्यक होता है। तथापि परिवार में व्यक्तियों का पारस्परिक मनोमालिन्य होने पर संभाव्य टकराव के परिहार के लिए परिवार का विभाजन किया जा सकता है। उसके लिए धर्म ने व्यवस्था भी दी है। परंतु व्यति एवं समाज में अथवा दो परिवारों में अथवा दो गुटों में मनोमालिन्य होने पर टकराव के परिहारों के लिए समाज का विभाजन करना संभव नहीं। संभव हो तो भी उचित नहीं। करने पर सारा जीवन उध्वस्त होगा। जहां केवल अर्थ एवं काम की प्राप्ति का ही उद्देश्य जीवन में रहता है वहां यह टकराव अवश्यंभावी होता है। अतः इस टकराव को टालने के लिए विधिनिषेध के नियम बने जिनका पालन करना अनिवार्य होता है। व्यक्ति तथा परिवार का स्वस्थ विकास होने के लिए जिस प्रकार नियम बनाये गए उसी प्रकार समाज की स्वस्थ धारणा होने के लिए भी विधिनिषेध के नियम बनाए गए। सारे नियम बनाते समय कल्याण की ही भावना निहित रहती है। उसके बिना जीवन असंभव होगा। जीवित रहना याने कर्म करना, कर्म करना याने कर्म का चयन करना और चयन करना यानें विवेक से निर्णय करना। परंतु उचित-अनुचित में विवेक करने की प्रत्येक व्यक्ति में क्षमता नहीं होती। अतः व्यक्ति के मार्गदर्शन के लिए विधिनिषेध व्यवस्था सामाजिक जीवन का एक अविभाज्य अंग बनती है। उसके आधार पर व्यक्ति व्यक्ति के पारस्परिक व्यवहार का मानदंड उपलब्ध होता है। समाज की स्वस्थ धारणा व्यक्ति के जिस आचरण से होती है उसका व्यक्ति के लिए विधान और व्यक्ति के जिस आचरण से सामाजिक स्वास्थ्य में बिगाड़ उत्पन्न होता है उस आचरण का व्यक्ति के लिए निषेध बताया गया है। चूंकि एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति को सुख अथवा दुःख देना ही व्यक्ति के आचरण का परिणाम होता है अतः उन विधि-

निषेध के नियमों को पुण्य और पाप के अथवा धर्म और अधर्म के रूप के प्रस्तुत किया गया। एक उक्ति है कि—

'अष्टादशपुराणेषु
व्यासेनोक्तं सूत्रद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय
पापाय परपीडनम्॥'

अर्थात 'अठारह पुराणों में व्यास ने (केवल) दो सूत्र बताए हैं: परोपकार पुण्यप्रद है (और) परपीड़न पापप्रद है।' याने उनके पुण्याचरण के सुफल और पापाचरण के कुफल बताए गए। अर्थात् फल का उपभोग करना ही पड़ता है यह सत्य कार्य-कारण भाव के सिद्धान्त द्वारा समाज के व्यक्ति व्यक्ति के अंतःकरण पर अंकित किया गया। ये दोनों प्रकार के फल व्यक्ति को या तो इसी जीवन में भुगतना पड़ेगा या इस जीवन में भोगने का प्रसंग न आने पर उन्हें भोगने के लिए पुनः जन्म लेना पड़ेगा यह भी संस्कार किया गया।

ईसाई व्यवस्था—विधिनिषेध की व्यवस्था देने का और उस व्यवस्था का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दंड देने का दायित्व ईसाई व्यवस्था में चर्च ने अपने हाथ में लिया। परिणामतः उन्होंने अपने न्यायालय बनाए और उनका संचालन करने के लिए न्यायाधीश भी नियुक्त किए और इस व्यवस्था की क्रियान्विति के लिए उन्होंने बल प्रयोग भी किया। इस व्यवस्था से अधिकतर ग्रामवासी प्रभावित थे। उस व्यवस्था के व्यय भार के वहन के लिए चर्च की सदस्यता अनिवार्य बनी। ग्रामीणों पर कर भी लगाए और चर्च के नाम पर बलात् वसूल भी किए गए। चर्च ने सामूहिक व्यवसाय भी किए, कर्ज दिए और उन्हें सव्याज वसूल कर लाभ भी वहुत कमाया और प्रसंगवशात् व्यापार भी किया यह विधिनिषेध की व्यवस्था और उसकी क्रियान्विति के लिए बल प्रयोग शासन भी करता रहा। परंतु शासन का प्रभाव केवल नगरों तक सीमित था। चर्च का प्रभाव आंशिक रूप में नगरों में और पूर्ण रूप से ग्रामों में था। इस प्रकार से सारे यूरोप में द्विदल राज्य पद्धति चली। केवल अपवाद था रूस जहां चर्च का प्रभाव कम था और राजा अपनी मनमानी चलाता था। इस द्विदल राज्य पद्धति के परिणामस्वरूप ऐहिक एवं पारलौकिक—दोनों—कार्य क्षेत्रों के संबंध में संभ्रम उत्पन्न हुए और चर्च के नाम पर, उपासना पंथ (religion) के नाम पर राजनैतिक षड्यंत्र भी रचे गए। परिणामतः उपासना पंथ के नाम पर कलह भी हुए और सारी शक्ति चर्च में केंद्रित होने के कारण चर्च की मान्यताओं का विरोध करने वालों पर अत्याचार भी किए गए। परंतु सोलहवीं शताब्दी से यूरोप में सभ्यता का विकास होना प्रारंभ हुआ। विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति हुई। परिणामतः उपासना पंथ के विरोध में, उसकी मान्यताओं के विरोध में एवं चर्च द्वारा किए गए

अत्याचारों की प्रतिक्रियास्वरूप चर्च के विरोध में मार्टिन लूथर के नेतृत्व में विद्रोह हुआ। पुनः वैज्ञानिक अनुसंधानों के कारण उत्पादन बढ़ा। उसके वितरण की चिन्ता पूंजीपतियों के सामने रही। अतः इन पूंजिपतियों, विद्रोह कर उठ खड़े हुए प्रोटेस्टेंट संप्रदाय के लोगों एवं चर्च के प्रभाव से मुक्त होने के लिए उत्सुक राजाओं ने अपनी भाषा के लोगों को संगठित कर चर्च से संघर्ष किया। परिणामतः सत्रहवीं शताब्दी में चर्च एवं शासन के कार्य क्षेत्र का विभाजन हुआ और उपासना पंथ (religion) व्यक्तिगत उपासना का क्षेत्र बना। परिणामतः यूरोप एवं पाश्चात्य देशों में उपासना पंथ (religion) का प्रभाव क्षीण हुआ और जहां चर्च का एकाधिकार रहा वहां उसका विरोध अधिक तीव्रता से होकर 'प्रोटेस्टेंट पंथ का प्रसार अधिक मात्रा में हुआ।

मुस्लिम व्यवस्था—मुस्लिम व्यवस्था में भी विधिनिषेध की व्यवस्था देने और उसकी क्रियान्विति करना दोनों कार्य क्षेत्र—एक ही संस्था के अधीन रहे। मुस्लिम राजाओं ने अपने उपासना पंथ (religion) को विशेष प्रश्रय दिया। उसके परिणामस्वरूप जैसे यूरोप में उपासना पंथ (religion) के नाम पर अत्याचार किए गए वैसे ही मुस्लिम राजाओं ने भी अन्य उपासना—पंथानुयायियों पर किए। उन पर जजिया कर लगाया। मुस्लिम शासनकाल में ये घटनाएं अपनी भूमि पर भी घटीं, यह हम सब जानते हैं परन्तु हम यह देखते हैं कि इस व्यवस्था के विरोध में अब तुर्कस्थान से प्रारंभ होकर अनेक मुस्लिम देश खड़े हो रहे हैं। तथापि उस दृष्टि से हुई प्रगति बहुत ही मंद है।

हिन्दू व्यवस्था कार्य विभाजन—परन्तु हमारी भूमि में ऐसा नहीं हुआ। धर्माचार्यों ने यह व्यवस्था दी कि दोनों के—आचार्य एवं शासन के क्षेत्रों में यह कार्य विभाजित किया जाय।

व्यवस्था देना आचार्यों का धर्म—विधिनिषेध की व्यवस्था देना यह कार्य आचार्य करेंगे और वे आचार्य करेंगे जो शम, दम, तितिक्षा, विवेक, वैराग्य तथा उपरति को प्राप्त किए हुए हैं; ताकि मन संतुलित रख योग्यायोग्य में विवेक करने में वे सक्षम रहें। दूसरा कार्य उनकी ओर यह रहा कि समाज को इस व्यवस्था का पालन करने की दृष्टि से सुशिक्षित करें। तीसरा कार्य उनकी ओर यह रहा कि समाज के अंतःकरण में मुमुक्षा उत्पन्न करें और भगवत्प्राप्ति के लिए अधिकार के अनुसार उपदेश करें।

विधिनिषेध की व्यवस्था देने का कार्य आज जनतंत्रीय व्यवस्था में जन प्रतिनिधियों को सौंपा गया है। परन्तु अभी निर्दिष्ट छह गुणों—शम, दम, तितिक्षा, विवेक, वैराग्य एवं उपरति के अभाव में वे निःस्वार्थ एवं निर्भय नहीं रह सकते। अतः शासन पर नियंत्रण रखने में वे असमर्थ होते हैं, यह हम सब अनुभव करते हैं। व्यर्थ लादे गए आपातकाल में हम यह विशेष रूप से अनुभव कर चुके हैं।

क्रियान्विति राजधर्म—अपने यहां मनुष्य जीवन के जो चार लक्ष्य—चतुर्विध पुरुषार्थ—बताये गए उनमें से जो ऐहिक जीवन से संबंधित तीन पुरुषार्थ है (१) धर्म अर्थात् विधिनिषेध व्यवस्था से परिलक्षित, (२) अर्थ और (३) काम, उनके बारे में आचार्यों ने यह व्यवस्था दी कि ये तीनों पुरुषार्थ ऐहिक जीवन से संबंधित (secular) होने के कारण अर्थ एवं काम की प्राप्ति धर्म द्वारा निर्दिष्ट व्यवस्थानुसार—जो आचार्यों द्वारा दी गयी उनके अनुसार—लोग कर सकें, यह प्रबंध करना राजा का धर्म है। अर्थात् इस व्यवस्था का उल्लंघन करने वालों को दंड देना यह राजधर्म बताया गया। इतना ही नहीं, समाज यदि सदाचरण करता हो तो उसका श्रेय राजा को भी दिया गया और समाज यदि दुराचरण करता हो—धर्म द्वारा निर्दिष्ट विधिनिषेध की व्यवस्थानुसार अर्थ एवं काम की प्राप्ति न करता हो—तो उसका अपश्रेय भी राजा का ही माना गया अथवा यों कहें कि समाज के पुण्य एव पाप का भागी राजा भी माना गया। राजा के लिए षष्ठांश भाग यह संज्ञा दी गयी यानी व्यक्ति द्वारा अर्जित अर्थ का षष्ठांश (१/६ अंश) राजा का माना गया अर्थात् कर के रूप में राजस्व (राजा का स्व याने धन) के नाते राजा वसूल करें यह विधान रहा। राजा के लिए यह भी विधान रहा कि उस षष्ठांश का उपयोग राजा प्रजा का जीवन सुखी, समृद्ध एवं नीरोगी हो इसलिए और विशेष रूप से अकाल आने पर धर्मशालाएं, जलाशय, कुएं आदि निर्माण करने के लिए करें ताकि प्रजा उनका उपयोग कर समृद्ध हो सके और जो उद्योगहीन लोग हैं उन्हें आजीविका के साधन उपलब्ध हो सकें, और परिणामतः निषिद्ध मार्गों से धनार्जन करने से वे विमुख हो। राजा के कर्त्तव्यों का संक्षेप में वर्णन करने की दृष्टि से कालिदास ने राजा दिलीप के संबंध में लिखा है कि—

'प्रजानामेव भूत्यर्थं
स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुण मुत्स्रष्टु—
मादत्ते हि रसं रविः॥' रघुवंश १।१८

अर्थात् 'प्रजा की समृद्धि के लिए वह प्रजा से षष्ठांश ग्रहण करता था जैसा सूर्य पानी ग्रहण कर सहस्र गुना अधिक मात्रा में देता है।'

प्रजानां विनयाधानाद्
रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां
केवलं जन्महेतवः॥' रघुवंश १।२४

अर्थात् 'प्रजा को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करने के कारण तथा उसका रक्षण एवं पोषण करने के कारण वह (दिलीप) उनका पिता हुआ (और) उनके माता-पिता केवल जनक थे।' साथ ही व्यक्ति द्वारा अर्जित पुण्य एवं पाप का षष्ठांश श्रेय

अथवा अपश्रेय राजा का है यह भी हमारी धारणा है। याने राष्ट्र के लिए अच्छे अथवा खराब दिन आए तो उसकी जिम्मेवारी राजा की होगी। उसका सारा दायित्व राजा का होगा। भारतीय युद्ध के पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण जब कौरव सभा में दूत बनकर गए तब वापस लौटते समय उनके द्वारा कुंती का युधिष्ठिर को भेजा हुआ संदेश बहुत विचार प्रवर्तक है। उस संदेश में कुंती ने यह विचार व्यक्त किया है कि—

'कालो वा कारणं राज्ञो
राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो माऽभूद्
राजा कालस्य कारणम्॥'

अर्थात् 'राजा के लिए काल (देश की सुस्थिति अथवा दुःस्थिति) कारण होती है अथवा काल (देश की सुस्थिति अथवा दुःस्थिति) के लिए राजा कारण होता है इस संबंध में तू संदेह मत कर। राजा ही (अच्छे अथवा खराब) समय के लिए कारण रहता है।' अर्थात् कुंती ने यह स्पष्ट किया है कि आज की दुःस्थिति के लिए सारा दायित्व तुझ पर है। पुनः आगे शांतिपर्व में इस विचार को अधिक स्पष्ट किया है कि—

'राजा कृतयुग स्त्रष्टा
त्रैताया द्वापरस्य च।
युगस्य च चतुर्थस्य
राजा भवति कारणम्॥' शा० प० म० भा०

अर्थात् 'कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग का स्त्रष्टा याने जिम्मेवार राजा रहता है।' याने राष्ट्र के लिए अच्छा अथवा खराब समय राजा की नीति से प्राप्त होता है। वर्तमान युग में हम ऐसा कह सकते हैं कि देश के लिए अच्छा अथवा खराब समय होने के लिए नेता ही जिम्मेवार रहते हैं। सार यह कि शासन का कार्य ऐहिक जीवन से संबंधित है, वह अपनी पुरातन मान्यता है जिसे आधुनिक युग ने अपनाया है। राजा का यह भी धर्म बताया गया कि वह प्रजा की आक्रांता से रक्षा करे। प्रत्येक व्यक्ति चौथे पुरुषार्थ की—मोक्ष की—प्राप्ति कर सके इसलिए उसकी रुचि, पात्रता एवं विश्वासों के अनुसार वह निर्बाध होकर उपासना कर सके, यह प्रबंध करना भी राज धर्म बताया गया है। परन्तु इस चौथे पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए की गयी उपासना में हस्तक्षेप करना राजा के लिए निषिद्ध रहा। वह राजाधर्मबाह्य आचरण माना गया। विविध उपासनावलंबी लोगों की ओर राजा को समान दृष्टि से देखना चाहिए, किसी का पक्षपात नहीं करना चाहिए और न किसी को विशेष प्रश्रय देना चाहिए यह राजधर्म आचार्यों ने बताया। राज्याभिषेक के समय राजा 'अदंड्योऽस्मि' कहता है और इस पर

आचार्य 'धर्मदंड्योऽसि' उत्तर देते हैं। परन्तु इसका अर्थ यही है कि राजा के लिए विहित इस राजधर्म का राजा को उल्लंघन नहीं करना चाहिए और किया तो वह पाप का भागी होगा।

भगवान् रामचंद्र का मार्गदर्शन—वाल्मीकि रामायण में वर्णित चौदह वर्ष के वनवास के समय का प्रसंग है। भगवान् रामचंद्र चित्रकूट में निवास करते थे। तब उन्हें मिलने के लिए भरत वहां पहुंचे। उनका आगमन होते ही राजधर्म की दृष्टि से रामचंद्रजी ने उन्हें विविध प्रकार के प्रश्न पूछे 'अमुक कार्य करते हो ना अथवा अमुक कार्य तो नहीं करते ?' आर्थात् अमुक कार्य करना चाहिए और अमुक नहीं यह मार्गदर्शन करने का उनका हेतु था। उस पृच्छा से हमारे धर्म की राजधर्म के संबंध में जो मान्यताएं हैं उनकी जानकारी उपलब्ध होती है। अतः उस उपदेश का संक्षेप में अवलोकन करना उचित होगा। पहला प्रश्न यह है कि—

'कच्चिद्दशरथो राजा
कुशली सत्यसंगरः।
राजसूयाश्वमेधाना-
माहर्ता धर्मनिश्चितः॥' अ० का० वा० रा०

अर्थात् 'राजसूयाश्वमेध यज्ञ करने वाले सत्यसंगर धर्म निश्चित राजा दशरथ कुशल हैं ना ? और दूसरा प्रश्न है कि—

'कच्चिद् ब्राह्मणो विद्वान्
धर्मनित्यो महाद्युतिः।
इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो
यशावत्तात पूज्यते॥' अ० का० वा० रा०

अर्थात् 'इक्ष्वाकुवंश के उपाध्याय धर्मनिष्ठ महातेजस्वी विद्वान् ब्राह्मण (वसिष्ठ) की तुम ठीक प्रकार से पूजा (आदर) करते हो ना ?' आगे के उपदेश को पृच्छा के रूप में नहीं विधिनिषेध के रूप में अति संक्षेप में लिखा है। 'सर्वविद् ब्राह्मणों का आदर करना। अच्छे शूर, वीर, जितेन्द्रिय, नीतिशास्त्रविद्, मंत्री नियुक्त करना। कुछ मंत्रियों से मंत्रणा करना परन्तु उनकी संख्या अधिक न हो अन्यथा मंत्रणा गुप्त नहीं रहती। एक भी मेधावी अमात्य वैभव को प्राप्त करा सकता है। श्रेष्ठ लोगों को श्रेष्ठ कार्य के लिए नियुक्त करना। मंत्री, याचक, प्रजाजन अवमान न करें ऐसा व्यवहार करना। विद्याविद्, शूर परन्तु ऐश्वर्यकामी और विघटन-कुशल भृत्य को मारना अन्यथा वह राजा को मारेगा। कुलीन, दक्ष, अनुरक्त सेनापति नियुक्त करना। सेना को उचित वेतन देना और वह भी समय पर देना। विद्वान् एवं प्रतिभावान दूत नियुक्त करना। अपने एवं परकीय देशों में चारण नियुक्त करना। अनर्थ करने में कुशल जो नास्तिक ब्राह्मण होते हैं उनका

भी सम्मान करना। अपने देश की सुरक्षा करना। वैश्य, शूद्र आदि सब प्रजाजनों को सुखी रखना। सब देशवासियों की रक्षा करना। स्त्रियों को सांत्वना देना परन्तु गोपनीय बात नहीं बताना। पशुओं का पालन एवं संवर्धन करना। धन, धान्य आयुध, जल और धनुर्धर योद्धाओं से दुर्ग सुसज्ज रखना। उत्पादन अधिक और व्यय कम करना। अपात्र को दान नहीं करना। सत्कार्य में व्यय करना। शुद्धात्माओं को दंड नहीं देना। जिसने चोरी की है ऐसे चोर को धन लोभ से मुक्त नहीं करना। धनवानों एवं निर्धनों के बीच कलह होने पर वीतराग अमात्य को निर्णय देने के लिए नियुक्त करना। बिना अपराध दंडित लोगों के अश्रु पुत्र पशु आदि को मारते हैं—अर्थात् उन्हें दंडित नहीं करना। बाल, वृद्ध एवं विद्वान् को दान देना। गुरु, वृद्ध, तापस, देवता, अतिथि एवं सिद्धार्थ ब्राह्मणों का आदर करना। अर्थ प्राप्ति के लोभ में धर्म को बाधा नहीं पहुंचाना और धर्मसिद्धि के मोह से, शासन के व्यय के लिए जो अर्थार्जन करना आवश्यक होता है उसे बाधा नही पहुंचाना। धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति यथासमय करना। ऐसा व्यवहार करना कि पौरजानपदों के लोग शास्त्रार्थविद् ब्राह्मण तुम्हारे सुख की कामना करें। चौदह दोषों को त्यागना, साम, दाम आदि चतुर्वर्ग का अवलंब करना आदि उपदेश इसमें किया है।

लोकानुरंजन परो राजा—अपने प्रदीर्घ राष्ट्रजीवन के इतिहास का अध्ययन करने पर हमें यह दिखाई देगा कि "लोकानुरंजन परो राजा" इस उक्ति को राजाओं ने सार्थक किया है और अपनी प्रजा को उसकी रुचि, प्रवृत्ति, पात्रता एवं श्रद्धा के अनुसार उपासना करने का स्वातंत्र्य राजाओं ने दिया है। अतएव १७-१८ सौ वर्ष पूर्व आये यहूदी, अथवा ईसाई, ८-९ सौ वर्ष पूर्व आये पारसी, और बाद में आये इस्लाम के अनुयायी लोग हिन्दू राजाओं के राज्यों में निश्चिन्त होकर अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार उपासना करते रहे। उनको किसी प्रकार की बाधा नहीं हुई।

विधिनिषेध की व्यवस्था का उल्लंघन करने वालों को दंड देना शासन का कर्त्तव्य रहा है। उत्पात करने वालों को बल प्रयोग द्वारा नियंत्रित करना, और उन्हें दंड देना, विधिनिषेध की व्यवस्था आवश्यकतानुसार अपनी सेना के सहारे बनाये रखना यह राजधर्म—राजा का कर्त्तव्य है—यह हमारे धर्म की पुरातन मान्यता है।

बल प्रयोग की आवश्यकता—बल प्रयोग द्वारा सुधार करने के प्रश्न को लेकर काफी विवाद उत्पन्न होता है। परन्तु यह विवादातीत सत्य है कि अशिक्षित एवं समाजद्वेषी लोगों की उद्दंडता, स्वार्थी वृत्ति, लोभ, दूसरों के प्रति असहिष्णुता एवं उससे उत्पन्न पारस्परिक कलह आदि को नियंत्रित करने के लिए बल प्रयोग अपरिहार्य होता है। लोगों में जो पारस्परिक विवाद विषय होते हैं उनको हल

करना आवश्यक होता है। पुनः सबल व्यक्तियों अथवा गुटों से दुर्बल व्यक्तियों अथवा गुटों की रक्षा करना आवश्यक होता है। निर्धन लोगों को धनवान लोग पीड़ा न दें यह व्यवस्था करना भी आवश्यक होता है। शासन सबल न हो तो दो व्यक्ति अथवा गुट संघर्ष करेंगे। परिणामतः समाज का स्वास्थ्य बिगड़ेगा। यह न्याय जैसा एक राष्ट्र की अंतर्गत व्यवस्था के लिए लागू होता है वैसे ही अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था लागू होना आवश्यक है। उसके अभाव में सबल राष्ट्र दुर्बल राष्ट्रों पर अतीत में हावी हुए, आज भी हावी हैं और भविष्य में भी यह असंभव नहीं।

(१) **बल प्रयोग के दोष सुधारने की क्षमता मर्यादित**—परन्तु बल प्रयोग द्वारा समाज स्वास्थ्य बनाए रखने की शासन की क्षमता की भी अपनी एक मर्यादा है। और शासन की यह पद्धति निर्दोष भी नहीं है। इस पद्धति के कारण समाज-द्वेषी व्यक्तियों अथवा गुटों को कुछ अंश तक शासन नियंत्रण में रख सकता है। परन्तु शासन द्वारा बलात् बाध्य किया गया व्यक्ति दुराचरण नहीं करेगा ऐसा दावे के साथ कहना दुःसाहस होगा। दुराचरण करते समय वह केवल इतनी ही सावधानी बरतेगा कि उसके दुराचरण का कोई साक्षी न रहे, कोई प्रमाण न रहे। शासन बहुत ही चुस्त रहा तो निषिद्ध कर्म करने से उसे रोक सकता है, करने पर उसे कठोर दंड दे सकता है। परन्तु बल प्रयोग जितना अधिक किया जाता है उतना अधिक प्रतिकार भी होने लगता है। परिणामतः एक परस्परोद्भावी दुष्टचक्र निर्माण होकर राष्ट्र की प्रगति में कुंठा उत्पन्न होती है।

(२) **यंत्र सदृश उपाय**—पुनः बलप्रयोग एक यंत्र जैसी कार्रवाई है। यंत्र को मनुष्य चलाता है और वह चलता है। उसका अपना कोई मन नहीं, कोई भावना नहीं, कोई प्रेरणा नहीं; क्योंकि वह निर्जीव है अतएव अचेतन है। उसी प्रकार मनुष्य भी यंत्र है, भावनाहीन है ऐसा समझकर बल प्रयोग किया जाता है। इस व्यवहार में न समझाने-बुझाने का प्रयास होता है और न विचारों का आदान-प्रदान होता है।

(३) **बल प्रयोग करने वालों में उन्माद का प्रादुर्भाव**—परिणामतः जिस प्रकार यंत्र से व्यवहार करते समय मनुष्य को उसी प्रकार बल प्रयोग करने वालों की स्थिति बन जाती है। परिणामतः उनकी भावना नष्ट हो जाती है। शासक और उसका डंडा इन दोनों में—न्यूनतम भेद हो जाता है। दूसरों को सुधारने चल पड़े और स्वयं बिगड़े यह अनिष्ट परिणाम सामने आता है। इसी कारण से सत्ता और उन्माद ये दोनों सहचर माने गए हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी रामचरित मानस में कहा है कि—

'नहि अस कोउ जन्मा जगमाही।
प्रभुता पाय जाहि मद नाही।।'

"Society" नामक अपने ग्रंथ में R.M. Maceiver एवं Charles H. Page ने लिखा है कि "The intervention of force substitutes a mechanical for a social relationship. In so far as force is employed it is the denial of the possibilities of co-operation. It treats the human being as though he were a merely physical object. Force by itself admits of no expression of human impulses on the part of those against whom it is wielded—there is no give and take between a man and a hangman's noose, a prison wall and a rubber runcheon. Force is the end of mutuality and consequently it narrows also to a minimum the expression of the nature of those who wield it."
अर्थात् 'डंडे का उपयोग सजीव के बदले में निर्जीव संबंध उत्पन्न करता है। जहां तक डंडे के उपयोग का क्षेत्र है वहां तक पारस्परिक सहयोग का निषेध होता है। मनुष्य के साथ ऐसा व्यवहार होता है कि मानो वह एक जड़ वस्तु है उनमें मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती। एक मनुष्य में और फांसी का फंदा, कारागार की दीवार एवं रबर के डंडे में कोई (विचारों का) आदान-प्रदान नहीं होता। जहां बल प्रयोग होता है वहां संबंधों की समाप्ति होती है और परिणामतः जो उसका उपयोग करते हैं उनके भी स्वभाव की अभिव्यक्ति न्यूनतम हो जाती है।' उद्दंडकारी यंत्र नहीं मनुष्य है, ऐसा सोचकर सत्ताधिष्ठित व्यक्ति द्वारा उसे समझाने का प्रयास किया गया तो भी उसकी समझाने-बुझाने की क्षमता कम हो जाने से वह समझा नहीं सकता। वह समझाने की क्षमता रखता हो तो भी निषिद्ध कर्म करने की उस उद्दंडकारी की जो दुष्ट प्रवृत्ति होती है उसे नष्ट करने की दृष्टि से उसमें आंतरिक प्रेरणा वह जगा नहीं सकता।

(४) **आंतरिक प्रेरणा जगाने में शासन अक्षम**—फिर सत्कार्य करने हेतु उसे प्रवृत्त करने के लिए उसकी आंतरिक प्रेरणा को शासन कैसे जगा सकेगा ? उसके लिए शासन सर्वथा असमर्थ होता है। संभव है कि राष्ट्र पर परकीय आक्रमण आने पर कुछ समय के लिए कर्त्तव्य करने हेतु शासन प्रेरित कर सके; परंतु स्थायी भाव से मनसा, वाचा, कर्मणा सदाचरण करने के लिए शासन प्रेरित नहीं कर सकता। लोक संग्रह करने की, परहित करने की, कर्त्तव्यपरायण हो निष्काम भाव से कर्म करने की, उत्सर्ग करने की भावना शासन जगा नहीं सकता। उसके लिए आंतरिक प्रेरणा की आवश्यकता होती है। वह जगाने में शासक सर्वथा असमर्थ होता है। उसका भी कारण है। शासक अनासक्त रहा, त्यागी रहा, तो भी उसे देखते ही यह विचार मन में आता है कि ऐश्वर्य एवं भोग इसके सहचर

भाव हैं। अतः कष्ट उठाने का भाव वह कैसे जगा सकेगा ? पुनः अनासक्त एवं त्यागी तथा कष्टमय जीवन, आत्मकठोर (Self denying) जीवन व्यतीत करने वाले शासकों का अभाव ही होता है। अधिकतर शासक ऐश्वर्य, भोग, सत्ता में आसक्ति रखे हुए होते हैं। अतः शासक में अंतःप्रेरणा जगाने की क्षमता होना दुर्लभ है।

आंतरिक प्रेरणा जगाना धर्म का कार्य क्षेत्र—अर्थ एवं काम पुरुषार्थ की प्राप्ति मात्र से अधिक सुख की प्राप्ति हो सकती है परन्तु शाश्वत् सुख प्राप्त करना हो तो अर्थ एवं काम की प्राप्ति की बाह्य इंद्रियजनित सुख की—कामना से विमुख होकर सर्वत्र का साक्षात्कार करना और तदर्थ अंतर्मुख होना आवश्यक होता है। तभी आंतरिक प्रेरणा जगायी जा सकती है। अतः आंतरिक प्रेरणा जगाना यह कार्य-क्षेत्र धर्म का और केवल धर्म का ही है। कम-से-कम अपनी इस पुण्य भूमि में तो व्यक्ति धर्म के अधिष्ठान पर आज तक प्रेरणा प्राप्त कर अविरत कर्म करने उठ खड़ा हुआ है। इस धर्म के माध्यम से मानव में मानवता जगाई जा सकती है यह अपना सहस्राब्दियों का अनुभव है। और इसका भी कारण है। अभी हमने यह समझ लेने का प्रयास किया कि शासक का ऐश्वर्य भाव देखकर भोग का ही विचार मन में आता है और इसलिए अंतःप्रेरणा नहीं मिल सकती। ठीक वही अंतःप्रेरणा वीतराग साधु-संतों के परोपकारक एवं आत्मकठोर आचरण से व्यक्ति में जागृत होती है और दूसरों के लिए कष्ट उठाने को उसे प्रेरित करती है। उन साधु-संतों के आचरण से एवं वाणी से व्यक्ति को यह उपदेश मिलता है कि—

'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी
निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयस्थानं
निधानं बीजमव्ययम्॥' गीता ९-१८

अर्थात् '(परमात्मा) प्राप्त होने योग्य, (तथा) भरण-पोषण करने वाला सबका स्वामी, शुभाशुभ कर्म को देखने वाला सबका वासस्थान (और) शरण लेने योग्य, (तथा) प्रत्युपकार न चाहकर सबका हित करने वाला (और) उत्पत्ति प्रलयरूप (तथा) सबका आधार (और) अविनाशी कारण भी है।' उनका—साधु-संतों का—सहवास यह आत्मविश्वास जगाता है कि हम भी उस परमपद को प्राप्त कर सकते हैं। फलतः अबोधपूर्वक पाप से निवृत्ति और पुण्य की ओर प्रवृत्ति की भावना जागृत होकर उनके जैसा परोपकारक एवं आत्मकठोर बनकर कर्त्तव्य एवं परिश्रम करने को मनुष्य उद्यत होता है।

आचार्य एवं शासक परस्परपूरक—परन्तु यह सब सत्य होने पर भी हमारे आचार्यों ने यह अनुभव किया कि सत्समागम से संस्कारित कर सुधार करने की

व्यवस्था भी अपूर्ण है; क्योंकि सहवास एवं उपदेश द्वारा संस्कार करने की साधु-संतों की प्रभाविता भी सहवास में आने वाले व्यक्ति के गत जीवन के आचरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न उसके स्वभाव पर, उसकी ग्रहण करने की मनोवृत्ति पर निर्भर है। अतः कुछ ऐसे व्यक्ति होंगे ही, जो आततायी हैं। साधुओं का सहवास उन्हें प्रेरणा देने में सक्षम नहीं होता है। गलत रास्ते से न जाने की दृष्टि से उनके लिए भय की भावना ही सहायक होगी और इसलिए आचार्यों ने ऐसे दुष्ट बुद्धि लोगों को नियंत्रण में रखने का दायित्व शासन को सौंपा, याने दोनों व्यवस्थाएं अपूर्ण हैं यह अनुभव किया और यह भी अनुभव किया कि दोनों दायित्व-व्यवस्था देना एवं उसकी क्रियान्विति—एक ही स्थान पर केन्द्रित रहें तो इष्ट फल प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः उन्होंने दायित्व का विभाजन किया। वीतराग अतएव संतुलित एवं निष्पक्ष जो आचार्य हैं उन्होंने विधिनिषेध की व्यवस्था देना और उस व्यवस्था के अनुसार लोग व्यवहार करें अपने सहवास एवं उपदेश द्वारा उन्हें संस्कारित करना यह कार्य उन्होंने अपने हाथों में लिया और इस व्यवस्था की क्रियान्विति का दायित्व उन्होंने शासन को सौंपा याने क्रियान्विति यह राजा का—शासनारूढ़ व्यक्ति का धर्म है। याने व्यवस्था देना यह वीतराग आचार्यों का धर्म है और इस व्यवस्था की अच्छी प्रकार से क्रियान्विति यह राजा का धर्म है। आचार्यों के लिए क्रियान्विति धर्मबाह्य और राजाओं के लिए व्यवस्था तय करना धर्मबाह्य। यह हमारी धर्मराज्य की व्यवस्था का स्वरूप है। पुनः दोनों को एक-दूसरे की प्रत्येक की न्यूनता को अनुभव कर समाज का स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए परस्परानुकूल होना और सहयोग कर परस्परपूरक होना चाहिए यह भी व्यवस्था उन्होंने दी। इस संबंध में अर्थात् इस परस्परपूरकता के संबंध में महाभारतकार कहते हैं कि—

'तपो मंत्रबलं नित्यं
बाह्मणेषु प्रतिष्ठितम्।
अस्त्रबाहुबलं नित्यं
क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम्।
ताभ्यां संभूय कर्तव्यं
प्रजानां परिपालनम्॥' शा० प० म० भा०

अर्थात् 'तपश्चर्या एवं मंत्रबल नित्य ब्राह्मण में प्रतिष्ठित हैं और अस्त्रविद्या एवं बाहुबल नित्य क्षत्रिय में प्रतिष्ठित हैं। दोनों को मिलकर—परस्पर सहयोग कर—प्रजा का परिपालन करना चाहिए।'

राज्य का ऐहिक स्वरूप—अतः यह स्पष्ट है कि विधिनिषेध की व्यवस्था देना और उसकी क्रियान्विति करना इन दोनों कार्यक्षेत्रों का हमारे यहां विकेन्द्रीकरण था और क्रियान्विति का कार्य जो ईसाई एवं मुस्लिम उपासनापंथों के

प्रमुखों ने अपने कार्यक्षेत्र का अविभाज्य अंग बनाया उसे आचार्यों ने कभी भी अपने हाथ में नहीं लिया। याने इस अर्थ में हमारी भूमि में कभी भी उपासनापंथ-निष्ठ (theocratic) शासन संस्था नहीं रही। साथ ही किसी विशेष उपासनापंथ को राजाओं ने विशेष आश्रय नहीं दिया। इस व्यवस्था के लिए केवल एक ही अपवाद है अशोक का जिसके धर्म-चक्र को आज हमने तिरंगे पर अंकित किया है। उसने और केवल उसने ही बौद्ध उपासनापंथ (religion) को विशेष आश्रय देकर राजकोष से खर्च कर उसका प्रसार किया। याने इस दृष्टि से केवल वही एक उपासनापंथनिष्ठ (theocratic) शासन संस्था अपने यहां रही और बाकी सर्व ऐहिक (secular) रही। सार यह कि राज्य का ऐहिक (secular) स्वरूप याने विधिनिषेध व्यवस्था से परिलक्षित धर्म अर्थ एवं काम के पुरुषार्थ तक मर्यादित स्वरूप, यह हमारी धार्मिक व्यवस्था में अतिपुरातन मान्यता है। इसे आज अद्ययावत् विकसित राष्ट्रों ने आदर्श के रूप में मान्य कर अपनाया है। अंतर केवल इतना ही है कि अब विधिनिषेध व्यवस्था आचार्यों के बदले जन प्रतिनिधि देते हैं और हमने भी आज यह पद्धति अपनायी हैं। तथापि यह पद्धति अपने यहां भी कहीं-कहीं प्रचलित थी।

स्वाधीन धर्माचार्य संस्था की व्यवस्था—पुनः आचार्यों ने धर्म संस्था को पूर्णरूप से राज्य शासन से स्वतंत्र रखने की सावधानी बरती। उन्होंने राजाश्रय की कभी चाह नहीं की। राज्यतंत्र से स्वतंत्र रहकर समाज के आश्रय से अपना धर्म प्रचार का कार्य किया। न्यूनतम आवश्यकताओं में जीवनयापन करने का स्वभाव होने से ही इस प्रकार निरपेक्ष रहकर स्वतंत्र रहना उनके लिए संभव हुआ। राजा द्वारा दिया हुआ दान लिया, परन्तु राजा के आश्रित नहीं बने। परिणामतः धर्म का प्रभाव बढ़ा और राजा को भी आचार्यों का सम्मान करना पड़ा, उनके सम्मुख नतमस्तक होना पड़ा। इसी कारण से आवश्यकतानुसार आचार्य शासन का निर्भयतापूर्वक मार्गदर्शन कर सके। आचार्यों के सम्मुख नम्रता से व्यवहार करना यह राजधर्म माना गया। महाभारतकार कहते हैं—

> 'आत्मानं सर्वकार्याणि
> तापसे राष्ट्रमेव च।
> निवेदयेत्प्रयत्नेन
> तिष्ठेत्प्रह्वश्च सर्वदा।।' शा० प० म० भा०

अर्थात् 'अपने को, अपनी शासन व्यवस्था को एवं राष्ट्र को तपस्वी को अर्पण कर नम्रतापूर्वक उनके सम्मुख खड़ा होना चाहिए।'

यह एक स्मरणीय, चिन्तनीय, मननीय एवं अनुकरणीय उदाहरण है कि स्वयं राजा सिद्धार्थ को जब सत्य की अन्वेषणा की प्रवल इच्छा हुई तब उन्होंने पहला कर्म किया है राज्य त्याग। और तपस्या कर सत्य का साक्षात्कार कर वे

भगवान् बुद्ध बने परन्तु बाद में शासन की बागडोर अपने हाथ में नहीं ली। केवल धर्मप्रचार का कार्य किया। विधिनिषेध व्यवस्था एवं क्रियान्विति के दायित्व के विभाग की एवं स्वाधीन आचार्य संस्था की आवश्यकता की यह भूमिका स्पष्ट रूप से ज्ञात होने के कारण ही हमारी भूमि में भगवान् बुद्ध के पूर्व भी और पश्चात् भी धर्म का प्रभाव बढ़ा।

मंदसौर जिले के भानपुरा तहसील में इंद्रगढ़ में उपलब्ध शिलालेख संवत् ४६७ में लिखा गया। उसमें लिखा है कि "उस समय के राष्ट्रकूट वंश में राजा णण्णप्प का राज्य था। उसके शासन काल में देउंल्लिका, तक्षुणिका एवं भोगैन्निका नामक तीन बहनों ने एक शिव मंदिर को अपनी संपत्ति अर्पण की। वहां विनीतराशि नामक आचार्य थे जिनका उस शिलालेख में वर्णन किया है कि—

'यः ख्यातो भूतलेऽस्मिन् प्रकटपृथुशुयशाः सत्ययुक्त सुशांतो
विद्वान् ज्ञानी कृतज्ञः सकल वसुमतीमंडनो भावितात्मा।
नित्यं राज्ञां समूहैर्नतचरणयुगः शब्शास्त्रेष्वभिज्ञो
निष्पन्नैः शिष्यसंघैरनवरतमभिष्ट्रयमानः सुशीलैः॥'

अर्थात् 'जो इस भूतल पर प्रसिद्ध हैं, जिसका महान् यश प्रकट है, जो सत्यवान्, सुशांत, विद्वान्, ज्ञानी एवं कृतज्ञ हैं, जो समस्त पृथ्वी का मंडन हैं और पवित्र हैं, जिसके चरणयुगल के सम्मुख राजमंडल नतमस्तक हैं, जो व्याकरणविद् हैं और कृतविद्य एवं सुशील शिष्यसंघ अनवरत जिसकी स्तुति करता है।'

इस शिलालेख से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य संस्था का आदर मध्ययुग में भी किया जाता था और बाद में भी होता रहा यह सब जानते हैं।

इतिहास हमें बताता है कि जब कभी आचार्य संस्था राजा के आश्रय से चली अथवा पनपी तब-तब धर्म की ग्लानि हुई और समाज एवं राष्ट्र उध्वस्त हुए हैं। महाभारत काल में द्रोणाचार्य और कृपाचार्य जैसे दिग्गज आचार्य राजा के आश्रित बने और इसलिए राजा का निर्भयतापूर्वक मार्गदर्शन नहीं कर सके। अतः धर्म की ग्लानि हुई जिसका अपरिहार्य परिणाम था भारतीय युद्ध। सम्राट अशोक ने भी अपने आश्रय में बौद्ध पंथ का प्रसार किया। फलतः उसका संख्यात्मक प्रभाव बढ़ा और विस्तार हुआ, भारतवर्ष में हुआ और समस्त पूर्वी देशों में हुआ। परन्तु गुणात्मक ह्रास हुआ। राजाश्रय के कारण उत्पन्न भौतिक सुख लोलुपता के कारण उसकी जीवनशक्ति का क्षय होकर बौद्ध पंथ का अपनी जन्मभूमि में ही भारत में ही—लोप हुआ यह भी हम सब जानते हैं।

काल क्रमण के साथ आज अपने अधिकांश आचार्यों में भी दुर्भाग्यवश कुछ विकृतियां आयी हैं। वे सब मठाधीश होकर एक ही स्थान पर आसीन हैं। जो प्रवास भी करते हैं उनमें भी भौतिक वस्तुओं के व आडंबर के प्रति एक संमोहक आकर्षण उत्पन्न हुआ दिखता है। चारों ओर धनी, राजा महाराजा अथवा आज

के शासनाधिष्ठित नेताओं जैसे आडंबर से घिरे रहने की उनको चाह है। उनके आश्रय से भी रहते हैं और उनके सान्निध्य से अपनी प्रतिष्ठा बढ़ती है, ऐसा भी लगता है, उनकी भ्रामक धारणा है। परिणामतः केवल धनी-मानी लोगों से ही उनका संबंध आता है। जनसाधारण की उन तक पहुंच नहीं रही और वे भी आडंबर से घिरे हुए होने से समाज के उत्पीड़ित एवं उपेक्षित अंगों को भूल गये हैं। फलतः धर्म के संस्कार करने की उनकी क्षमता क्षीण हो गयी है। तथापि कुछ चिन्तनशील, आत्मसंतुष्ट आडंबरहीन आचार्य आज भी विद्यमान हैं और वे धर्म का संस्कार एवं जीवन में मार्गदर्शन करने का अपना कर्त्तव्य पूर्ण करते हैं। परन्तु उनकी संख्या कम होने से संस्कारकों का अभाव ही है। अतः अद्यतन आचार्यों को आत्मचिंतन कर अपने में सुधार करना आवश्यक है।

विधिनिषेध के सामान्य नियम—विधिनिषेध की व्यवस्था की दृष्टि से मोटे तौर पर जो सामान्य नियम बनाए गए उनका विचार करना बोधप्रद होगा। महाभारत में भीष्माचार्य ने युधिष्ठिर का मार्गदर्शन करते हुए कहा है कि—

'यदन्यैर्विहितं नेच्छे-
दात्मनः कर्म पुरुषः।
न तत्परेषु कुर्वीत
जानन्नप्रियमात्मनः।।' शा० प० म० भा०

अर्थात् 'दूसरों के द्वारा किए गए जिस कर्म को मनुष्य नहीं चाहता है वह कर्म अपना अप्रिय जानकर (समझ कर) दूसरों के प्रति (मनुष्य को) नहीं करना चाहिए।'

'जीवितं यः स्वयं चेच्छेत्
कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यद्यदात्मनि चेच्छेत
तत्परस्यापि चिंतयेत्।।' शा० प० म० भा०

अर्थात् 'जो स्वयं जीवित रखना चाहता है वह दूसरों को कैसे मारेगा? जो-जो कर्म (मनुष्य) अपने लिए चाहता है, उस-उस कर्म की उसको दूसरों के लिए चिंता करनी चाहिए।' आदर्श मनुष्य का लक्षण प्रस्तुत किया है कि—

'सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं
सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा
स धर्मं वेद जाजले।।' शा० प० म० भा०

अर्थात् 'हे जाजलि! वह मनुष्य धर्म जानता है जो नित्य सबका मित्र बना रहता है और जो कर्म से, मन से, वाणी से दूसरों के हित में रममाण है।'

विधिनिषेध नियमों के कठोर एवं लचीले स्वरूप के क्षेत्र—विधिनिषेध के

नियमों का पालन करने का यद्यपि धर्म ने निर्णय दिया तथापि जहां व्यक्तिगत जीवन से संबद्ध नियम हैं वहां विधिनिषेध के नियम भी व्यक्ति के अधिकार के अनुसार—ऊंचे स्तर के लोगों के लिए कठोर स्वरूप के और निम्नस्तर के लोगों के लिए लचीले स्वरूप के—निर्दिष्ट किए गए। उदाहरणार्थ, वर्ज्य माने गए व्यवहार के बारे में मार्गदर्शन करते हुए महाभारत के शान्ति पर्व में कहा है कि—

'न मांसभक्षणे दोषो
न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां
निवृत्तिस्तु महाफला।।' शा० प० म० भा०

अर्थात् 'न मांस भक्षण दोषास्पद है, न मद्यपान और न मैथुन। यह (तो) भूत मात्र की प्रवृत्ति है, तथापि इनसे निवृत्ति अति फलदायिनी है।' यानी विचार एवं आचार में जो उन्नत स्तर पर जा सकते हैं उन्हें मांस भक्षण आदि को त्यागना चाहिए। जिनके लिए उन्नत स्तर पर जाना इसी जीवन में संभव नहीं, वे धर्म की व्यवस्था से सुसंगत रूप से इन्हें प्राप्त करें। याने संयमित रूप से विधि-निषेध के नियमों के अनुसार प्राप्त करें। इस प्रकार व्यक्तिगत जीवन से संबंधित नियमों के बारे में संयम बरतते हुए व्यवहार करने की स्वतंत्रता भी धर्म ने दी है। "Society" नामक अपने ग्रंथ में R. M. Maceiver तथा Charles H. Page कहते हैं कि "Compulsion is dangerous and usually harmful when applied to matters with respect to which the pursuit by each of his own way does not directly interfere with the equal opportunity of the rest to follow their own ways"
अर्थात् 'व्यक्ति के जिस आचरण से दूसरों को अपने मार्ग से विचरण करने, प्राप्त समान अवसरों को प्रत्यक्ष रोक उत्पन्न होने की संभावना नहीं है, वहां व्यक्ति के उस आचरण पर बलात् निषेध लादना सदैव भयावह एवं प्रायः हानिप्रद होता है।'

अंतर्निहित उद्देश्य की पूर्ति के अभाव में समयानुसार संशोधन शास्त्र-सम्मत—एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए विधिनिषेध का ढांचा या तो आचार्यों द्वारा तैयार किया जाता है अथवा रूढ़ि से बन जाता है। परन्तु समय के परिवर्तन से कभी-कभी उस उद्देश्य की पूर्ति असंभव हो जाती है और ढांचा ज्यों-का-त्यों बना रहा तो उससे दुष्परिणाम भी होने लगते हैं। ऐसी अवस्था में ढांचे का बना रहना सीप के अन्दर का जीव मरने के बाद सीप के अस्तित्व जैसा निरर्थक हो जाता है। समाज का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। अतः विधिनिषेध व्यवस्था के अंत-र्निहित उद्देश्य को समझना और उस व्यवस्था के बनते समय का और विद्यमान

स्थिति का विचार कर उस व्यवस्था से आज कोई विपरीत परिणाण तो नहीं होता इसका तुलनात्मक निरीक्षण कर आवश्यकतानुसार उस पुरानी व्यवस्था में संशोधन करना आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ : अपने यहां विशेष रूप से देहातों में गोरस को—दूध को—पवित्र माना गया है। तीर्थ माना गया है। और इसलिए उसका विक्रय अधर्म माना गया है। यह व्यवस्था बनाने वाले संपन्न थे अथवा उदारहृदय थे और उन्होंने बिना मूल्य लोगों को दूध दिया। वस्तुतः यह एक आदर्श व्यवहार हुआ। परन्तु बाद में आने वाली पीढ़ियों में वह संपन्नता अथवा उदारमनस्कता नहीं रही। तथापि रूढ़ि का पालन करने का दंभ चलता रहा। दूध न बेचने के कारण उत्पन्न धनाभाव के परिणामस्वरूप दूध के प्रचुर मात्रा में उत्पादन होने के लिए जितना दाना पशुओं को खिलाना चाहिए उतना खिलाना असंभव हुआ। उसका परिणाम यह हुआ कि गौ एवं भैंस को दाना देने में कटौती होने लगी और दूध का उत्पादन घटा। देहातों में घटा जहां पशुधन प्रचुर मात्रा में होता है यद्यपि बिना मूल्य दूध देने की समस्या से लोग बचे। परन्तु पशुधन भी भूखा रहा, दूध का उत्पादन घटा और उसका लोगों के स्वास्थ्य पर कुप्रभाव हुआ। यदि दूध विक्रय निषिद्ध न माना जाता तो दूध बेचकर जहां एक ओर दाना देने का उचित प्रबंध करना संभव होता, वहां दूसरी ओर वह पैसा उस व्यक्ति के उदर निर्वाह के लिए साधन भी बनता। पुनः प्रचुर मात्रा में लोगों को दूध की उपलब्धि होती। ऐसी स्थिति में उस विधिनिषेध की व्यवस्था में संशोधन करने की आवश्यकता होती है, क्योंकि मूल उद्देश्य यह है कि लोगों का स्वास्थ्य सुधरे। इसी हेतु से बिना मूल्य दूध देने वाले महानुभावों ने उसे चालू किया था। अतः आज की परिर्वातित स्थिति में यह व्यवस्था देना उचित है कि बिना मूल्य दूध देना अति पुण्यकारक है; तथापि असंपन्नता के कारण असंभव होने पर दूध बेचना यह अधर्म नहीं, पाप नहीं, वह धर्म है। उसमें पानी मिलाना निःसंशय पापकारक है। व्यवस्था में यह संशोधन करने से दूध बिक्री करने पर बेचने वाले व्यक्ति को धन प्राप्ति होगी, पशुओं को दाना मिलेगा, पशुधन स्वस्थ्य होगा, दूध का भी उत्पादन बढ़ेगा और लोगों का स्वास्थ सुधरेगा। समय-सूचक दृष्टि से समाज की स्वस्थ धारणा करना ही धर्म का मूल उद्देश्य होने से इस विधिनिषेध व्यवस्था को लचीला बनाना आवश्यक होता है—क्योंकि इस स्थिति में—अंतर्निहित उद्देश्य की पूर्ति के अभाव में—इस प्रकार विधिनिषेध व्यवस्था का लचीला होना सजीव समाज का लक्षण है। और कड़ापन निर्जीव का लक्षण है। एक वृक्ष जब तक सजीव होता है तब तक लचीला होता है परन्तु सूखने पर उसका लचीलापन नष्ट होकर वह कड़ा हो जाता है। एक अन्य संदर्भ में पांडिचेरी की माताजी ने कहा हैं कि—

"Individuality does not mean implastic rigidity. If it were

so, the stone would be said to have the best in individuality, whereas it has the least."
अर्थात् 'अनमनीय कड़ापन यह कोई व्यक्तित्व का लक्षण नहीं है। यदि वह व्यक्तित्व का लक्षण होता तो कहना होगा कि पत्थर में अधिकतम व्यक्तित्व है, जबकि (वास्तविकता यह है कि) उसमें न्यूनतम व्यक्तित्व होता है।' अतः उद्देश्य पूर्ति के अभाव में इस व्यवस्था का लचीला होना हमारे को धर्म मान्य है और लकीर की फकीरी सर्वथा अमान्य है। भगवान् मनु की भी दी हुई व्यवस्था है कि—

'परित्यजेदर्थकामौ
यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं
लोक-विक्रुष्टमेव च ॥' मनुस्मृति

अर्थात् 'धर्मवर्जित अर्थ एवं काम का त्याग करना चाहिए और जिसका अन्त दुःख में होता है एवं जो लोकनिंदित है उस धर्म का भी विधिनिषेध व्यवस्था का भी त्याग करना चाहिए।

महाभारतकालीन घटना : धारणा धर्ममित्याहु

भारतीय युद्ध के १५वें दिन की घटना है। कर्ण ने युधिष्ठिर को आहत एवं अपमानित किया था। अतः वे अपने शिविर में लौट आए यह समाचार युद्ध क्षेत्र में भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन को ज्ञात हुआ। अतः युधिष्ठिर से मिलने वे शिविर में वापस आए। अर्जुन को देखकर युधिष्ठिर ने पूछा 'क्या कर्ण को मार कर आए हो?' अर्जुन ने कहा 'नहीं' आप आहत हुए यह सुनकर मैं आपसे मिलने आया हूं।' तब युधिष्ठिर बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने अर्जुन के पराक्रम की और गांडीव धनुष की निंदा की और अर्जुन से कहा 'तुम अपना गांडीव दूसरे को दे दो।' यह सुनकर युधिष्ठिर का वध करने के लिए अर्जुन ने अपना खड्ग निकाला तब श्रीकृष्ण ने उनसे पूछा 'तुम यह क्या कर रहे हो?'

अर्जुन ने कहा 'मैंने युवावस्था में यह प्रतिज्ञा की थी कि मेरे पराक्रम की जो निंदा करेगा, गांडीव दूसरे को दे दो ऐसा कहेगा उसका मैं शिरश्च्छेद करूंगा। इस प्रतिज्ञा का पालन करना मेरा कर्त्तव्य है, धर्म है, ऐसा सोचकर मैंने युधिष्ठिर का वध करने के लिए हाथ में खड्ग लिया है।' श्रीकृष्ण ने सोचा कि अब यदि यह अपने बड़े भाई को मारता है तो इनकी आपस की फूट के कारण कौरवों का आसन बना रहेगा, समाज की धारणा ठीक प्रकार से न होने के कारण अधर्म बना रहेगा। अतः वे बोले 'हे पार्थ! तुम्हें धिक्कार है। अब मेरी समझ में आया कि तुमने वृद्धजनों की सेवा नहीं की और उनसे धर्म के रहस्य को नहीं समझा है। अतः तुम क्रुद्ध हुए हो। तुम धर्म के विभाग को नहीं जानते। तुम भीरु हो और मूर्ख भी।' आगे उन्होंने कहा—

'अकार्याणां क्रियाणां च
संयोगो यः करोति वै।
कार्याणाम क्रियाणां च
स पार्थ ! पुरुषाधमः ।।' म० भा०

अर्थात् 'जो मनुष्य न करने योग्य कर्म का और क्रिया का अथवा करने योग्य कर्म का और अक्रिया का संयोग करता है। वह पुरुष हे पार्थ। नराधम है।' आगे उन्होंने कहा 'धर्म के अज्ञान के कारण ही बाल्यकाल में की प्रतिज्ञा का पालन करना ही धर्म समझते हो। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान अनायास नहीं प्राप्त होता। वह सब शास्त्र से जाना जाता है और शास्त्र का तुम्हें ज्ञान नहीं। प्राणी की हिंसा न करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है और तुम अपने भाई को ही मारने के लिए उद्यत हो गए, जो तुमसे युद्ध नहीं कर रहा है, जो तुम्हारा मित्र है, पराङ्मुख है, निःशस्त्र है, 'तुम्हारा हूं' ऐसा कहता है और असावध है मूर्खतावश ही तुम अधर्माचरण करने उद्यत हुए हो। यद्यपि अहिंसा ही परमधर्म है तथापि हिंस्र प्राणी का वध करना धर्म है। यद्यपि सत्य बोलना ही धर्म है तथापि चोरों के भय से छिपे व्यक्ति का स्थान चोरों के पूछने पर चोरों को बता देना--भले ही सत्यवादिता हो—अधर्म्य है और इसी कारण से उनका स्थान चोरों के पूछने पर उन्हें बताने वाले सत्यवादी कौशिक को नरक की प्राप्ति हुई।' बाद में धर्म का लक्षण बताते हुए उन्होंने कहा है कि—

'धारणाद् धर्ममित्याहु-
धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं
स धर्म इति निश्चयः ।।' म० भा०

अर्थात् 'जिसके कारण (प्रज्ञा की) ठीक प्रकार से धारण हो वह धर्म है। धर्म ही प्रजा को—समस्त सृष्टि को—धारण करता है। जो धारण से संयुक्त है वही धर्म है यही निश्चय है।'

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि विधिनिषेध की व्यवस्था का मूल उद्देश्य समाज की सुव्यवस्थित धारणा ही है। और इसलिए प्रचलित व्यवस्था यदि समाज का धारण ठीक प्रकार से करने में प्रसंगवशात् बाधक होती है तो उसमें आवश्यक संशोधन करना धर्म ने निषिद्ध नहीं माना है। यों देखा जाय तो मौलिक सिद्धान्तों में बहुत ही कम संशोधन अथवा परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि वे बहुत विस्तारपूर्वक बनाये गये हैं। तथापि यहां-वहां अपवाद के रूप में यदि कुछ संशोधन समाज की सुव्यवस्थित धारणा के लिए करना आवश्यक हुआ तो करने में कोई दोष नहीं, करना धर्मनिषिद्ध नहीं यही इसका सार है।

समन्वय का दृष्टिकोण—इस सारे विचार मंथन से यह सूत्र स्पष्ट रूप से समझ में आयेगा कि हमारे धर्माचार्यों ने किसी भी विषय के बारे में मार्गदर्शन करते समय एकांतिक दृष्टिकोण नहीं अपनाया। गहराई में जाकर विचार करने की क्षमता के अभाव में अनेक लोग एकांतिक दृष्टिकोण अपना कर जो आवरण करते हैं उसे वे धर्म समझते हैं। और उनके उस आवरण से भ्रांतचित्त होकर अन्य चिंतनशील लोग भी विचार न करते हुए उसी प्रवृत्ति को धर्म समझकर धर्म के बारे में विपरीत धारणा बनाकर उसे हेय मानते हैं, उससे दूर भागते हैं। वस्तुतः एकांतिक दृष्टिकोण विवेक को समाप्त करता है और व्यक्ति एवं समाज के उत्थान के लिए सहायक होना दूर रहा, बोझ बन जाता है। बैलगाड़ी अथवा तांगे का कुशल सारथि यह हमेशा देखता रहता है कि कहीं गाड़ी उलाल होने पर बैलों के गले में फांसी लगती है और धूर्जल होने पर उन पर बोझ आता है। अतः अन्दर बैठे यात्रियों को आवश्यकतानुसार आगे अथवा पीछे सरकने के लिए कहकर वह सारथि संतुलन बनाये रखता है। इस संतुलित विचार एवं व्यवहार का महत्त्व बताते हुए एक अन्य संदर्भ में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति
न चैकांतमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य
जाग्रतो नैवचार्जुन ॥' गीता ६-१६

अर्थात् 'हे अर्जुन यह योग न तो बहुत खाने वाले का सिद्ध होता है और न बिलकुल न खानेवालों का सिद्ध होता है। तथा न अतिशय शयन करने वाले स्वभाव वाले का और न अत्यंत जागने वाले का ही (सिद्ध होता है)।' फिर आगे वे कहते हैं कि—

'युक्ताहारविहारस्य
युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य
योगो भवति दुःखहा ॥' गीता ६-१७

अर्थात् 'दुखों का नाश करने वाला योग (तो) यथा योग्य आहार-विहार करने वाले का यथायोग्य चेष्टा करने वाले का (तथा) यथायोग्य शयन करने वाले तथा जागने वाले का (ही) (सिद्ध) होता है।' योग के विषय में कहते हुए यह कहा गया है; परन्तु थोड़ा गंभीरता से विचार किया जाय तो समझ में आयेगा कि यह प्रतिपादन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होता है। श्री अरविंद ने अथवा माताजी ने कहा है कि—"Perfection is not an extreme, it lies in naintaing balance" अर्थात् 'आदर्श (पूर्णता) एकांतिकता में नहीं; उसका अधिष्ठान संतुलन में है।'

: ११ :

विविध उपासनाओं का एक ही गंतव्य

श्रद्धा एवं उपासना पद्धति का अहंकार कलहजनक—हमने गृहस्थाश्रम में यह समझने का प्रयास किया कि आर्थिक विशमता से समाज में जो खाई निर्माण होती है उसके परिणामस्वरूप ईर्ष्या, मत्सर, द्वेष आदि मनोविकार व्यक्ति के मन में उत्पन्न होकर समाज का स्वास्थ्य बिगड़ता है। उसके परिहार के लिए धर्म की दी हुई व्यवस्था भी हमने समझ लेने का प्रयास किया फिर विधिनिषेध व्यवस्था एवं क्रियान्विति प्रकरण में यह समझ लेने का प्रयास किया कि आर्थिक विषमता के अतिरिक्त कुछ लोगों में उद्दंडता, दुष्टबुद्धि, स्वार्थपरायणता अथवा व्यक्तिगत अहंकार जैसे दुर्गुण होते हैं जो समाज का स्वास्थ्य बिगाड़ते हैं। उनका नियंत्रण कर समाज स्वास्थ्य ठीक करने के लिए धर्म की दी हुई व्यवस्था भी हमने पढ़ी और अन्य राष्ट्रों द्वारा पहले अपनायी हुई पद्धति की सदोषता और अपने आचार्यों द्वारा दी गयी व्यवस्था की निर्दोषता को भी हमने समझने का प्रयास किया और यह भी देखा कि अद्यतन राजनीति-शास्त्रविद् लोग हमारी ही इस अतिपुरातन पद्धति को अपना रहे हैं।

अब हम सद्भाव से प्रेरित एक गुण के बारे में, जो अच्छा होते हुए भी योग्य संस्कार के अभाव में अहंकाररूप विकृति में परिणत होकर समाज के स्वास्थ्य में बिगाड़ उत्पन्न करता है, एवं उसके गुण के द्वारा जनित अहंकाररूप विकृति के परिहार के लिए आचार्यों द्वारा दी गयी व्यवस्था के बारे में, विचार करेंगे। वह गुण है व्यक्ति के आत्मिक विकास के लिए उनके द्वारा अपनाई गई श्रद्धा एवं उपासना पद्धति इसके संबंध में यदि अहंभाव रहा तो समाज में कलह उत्पन्न कर वह समाज का स्वास्थ्य बिगाड़ती है।

समस्त मानव समाज में अनेक प्रकार की श्रद्धाएं हैं। प्रत्येक मनुष्य परमात्मा की कल्पना अपनी श्रद्धा के अनुसार करता है और उनकी अपनी इष्ट पद्धति के अनुसार पूजा करता है। तह में जाकर विचार करने की क्षमता के अभाव में, उसका अपनी श्रद्धा एवं उपासना पद्धति के बारे में एक अहंभाव जागृत होता है और मेरा उपास्य देवता एवं उपासना पद्धति श्रेष्ठ, उत्कृष्ट और अन्य लोगों

की निकृष्ट यह विचार उसके मन पर हावी होता है। इसकी परिणति स्वाभाविकतया कलह करने में होती है।

यह स्वमतांधता (fanaticism) अपने आप में एक बड़ी प्रबल एवं अतिभयंकर शक्ति होती है स्वार्थ के कारण कलह करने वाले व्यक्ति के मन में यह एक सुप्त भावना निहित होती है कि मैं अपने स्वार्थ के लिए कलह कर रहा हूं, कुमर्म कर रहा हूं और इसलिए वह कदाचरण उसे अंतःकरण में चुभता है। इसी चुभन के कारण संयोगवश अथवा दूसरे के सत्संग में प्राप्त उपदेश से उसे आत्मचिंतन करने की प्रेरणा मिल सकती है और परिणामतः उसमें सुधार होने की संभावना रहती है; परन्तु जो व्यक्ति निष्ठा के साथ विश्वास के साथ कोई दुराचरण करता है उसकी तो यही कल्पना होती है कि मैं एक दिव्य प्रेरणा से प्रेरित होकर यह कर्म—फिर भले ही कुकर्म क्यों न हो—कर रहा हूं। अतः उसे अंतःकरण में कोई चुभन नहीं रहती और दूने उत्साह से वह दुराचरण करने के लिए—अन्य मतानुयायियों पर अत्याचार करने के लिए—आगे कदम रखता है। परिणामतः इस स्वमतांधता (fanaticism) के कारण किसी विचार के प्रादुर्भाव के बाद की प्राथमिक अवस्था में पर्याप्त प्रगति हुई दिखती है। Nothing succeeds like success अर्थात् "निर्दोषमेकं यशः" के न्याय से स्वमतांध गुट के कदम आगे ही रखे जाते हैं। परंतु परिणामतः वह स्वमतांधता समाज के अंतर्गत अन्य विचारों के लोगों से कलह उत्पन्न कर सामाजिक जीवन विघटन निर्माण करती है। मानवता पर भी बड़ा आघात होता है। उनकी स्वमतांधताजनित आक्रामक प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप संख्यात्मक (extensive) दृष्टि से उस विचार का विस्तार भले ही हो, तथापि इस स्वमतांधतावश विचार करने में जो कुंठा उत्पन्न होती है, उसके कारण इन लोगों के और उन लोगों के, जिन्हें वे प्राभावित करते हैं आत्मिक विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। उनका गुणात्मक (qualitative or intensive) विकास नहीं होता और धीरे-धीरे ह्रास होने लगता है। अहंकार, दर्प, काम, द्वेष एवं क्रोध बढ़ता है। अपनी यह मान्यता है कि उन्हें इसके कुफल भोगने पड़ते हैं। उन्हीं में मतभेद होकर स्वभावगत स्वमतांधताजनित असहिष्णुता के कारण वे आपस में कलह करने लगते हैं।

यहूदी एवं ईसाईयों का उदाहरण—अपनी इस पुण्य भूमि के बाहर जो उपासना पंथ (religion) चल पड़े उनमें तीन प्रमुख हैं : (१) यहूदी, (२) ईसाई, और (३) मुस्लिम। इन सबकी यही धारणा है कि उनके पंथ के प्रणेता द्वारा बताया गया मार्ग ही उत्कृष्ट है और बाकी सब निकृष्ट अतएव त्याज्य है। इतिहास यह बताता है कि इस धारणा के परिणामस्वरूप यहूदी पंथानुयायियों में पहले बहुत कलह होते रहे। इस पंथ की संशोधित आवृत्ति के रूप में ईसा मसीह

के नाम पर जो पंथ चल पड़ा वह भी यह धारणा लिए हुए है कि ईसा मसीह द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने वालों को ही मुक्ति मिलेगी, अन्यों को नहीं। सहिष्णुता नामक मधुर शब्द का वे भले ही उपयोग करते हों परंतु मनोरचना असहिष्णुता की रही है। आखिर सहिष्णुता शब्द भी इसी भाव को व्यक्त करता है कि अन्यों के विचार सही नहीं; तथापि उन्हें सहन करो। फलतः उनकी पुरातन मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह कर उन्हीं में से उठ खड़े हुए "प्रोटेस्टेंट" (विरोधी) संप्रदाय के लोगों पर उन लोगों ने बहुत अत्याचार किये। यहां तक कि उनको जिंदा जलाया बायबल की उक्ति के विरुद्ध "पृथ्वी गोलाकार है" इस सत्य का प्रतिपादन करने वाले गेलिलियो को उन्हीं ने इस स्वमतांधतावश शूली पर चढ़ाया यह सर्वविदित है। बायबल के विरुद्ध जो भी कोई बोल उठा, उसका उन्होंने विनाश किया। अपनी मातृभूमि में गोवा आदि क्षेत्रों में उन्होंने लोगों का बलात् ईसाईकरण किया और विरोध करने वालों पर अत्याचार किये। स्वमतांधतावश उत्कृष्ट निकृष्ट की मिथ्या एवं भ्रामक कल्पना का ही यह सारा परिणाम है।

मुस्लिमों का उदाहरण—मुहम्मद पैगंबर साहब द्वारा प्रणीत मुस्लिम पंथ तो स्वमतांधता (fanaticism) की घुट्टी जन्म से ही लेता आया है। उसके परिणाम-स्वरूप उत्पन्न असहिष्णुता एवं उन्माद के कारण इस पंथ के लोगों ने अपने ही पंथ के अन्य उपपंथियों पर भी अत्याचार किए, आज भी करते हैं। फिर भिन्न मान्यताएं रखने वाले अन्य संप्रदाओं पर किए हों तो कौन-सा आश्चर्य ? उन्होंने जो अत्याचार किए और फलतः जो हाहाकार मचा उसका सारा इतिहास साक्षी है। उसके दुष्परिणाम सबसे अधिक यदि किसी भूमि को भुगतने पड़े तो हमारी भूमि को, यह हम सब जानते हैं। उनकी असहिष्णुता एवं उन्माद के कारण कितना रक्तपात हुआ, कितनी प्राण हानि हुई और अंततोगत्वा उसकी परिणति अपनी परम पवित्र मातृभूमि के दुर्भाग्यपूर्ण खंडन में कैसी हुई यह वृत्त ताजा है, रोमांच-कारी है बड़ा हृदयद्रावक है। आज भी उनकी असहिष्णुता के परिणाम हमें भुगतने पड़ते हैं। यह वस्तुस्थिति है।

केवल सहिष्णुता की भावना पर्याप्त नहीं—इस असहिष्णुता की भावना की निर्मिति का एकमेव कारण उनका यह दृष्टिकोण है कि हमारी श्रद्धा एवं उपासना पद्धति उत्कृष्ट है और दूसरों की निकृष्ट। उपासना पंथ (religion) के नाम पर इसी कारण से ऊपर बताए गए पंथों में युद्ध होते रहे और उनके द्वारा बलात् उपासना पंथ (religion) परिवर्तन करवाया गया। इनमें संशोधन कर ईसा मसीह के अनुयायियों ने सहिष्णुता का प्रचार किया अवश्य, परंतु वह केवल मौखिक रहा। उत्कृष्ट-निकृष्ट मौखिक की भावना बनी रही। आज भी बनी हुई है। अपने यहां के हिन्दू आचार्यों ने कुछ समय पूर्व यहां के एक प्रमुख ईसाई मिशनरी कार्डीनल ग्रेशस से पूछा कि "क्या आपको यह मान्य है कि सब उपासना पंथ

(religion) समान है तो उन्होंने जो उत्तर दिया वह विचारणीय है। उन्होंने कहा कि "When I am out to sell a particular kind of soap, how can I say that the soaps manufactured by other companies are of the same standard ?"
अर्थात् 'जब एक विशिष्ट साबुन बेचने का काम मैंने अपनाया है तब मैं यह कैसे कह सकता हूं कि दूसरी कंपनियों द्वारा निर्मित साबुन भी उतने ही अच्छे हैं।' यह उत्तर उनके अंतःकरण में व्याप्त उत्कृष्ट-निकृष्ट की भावना को सुस्पष्ट रीति से व्यक्त करता है।

इस मनोवृत्ति ने कि हम दूसरों को सहन करें आपाततः सामंजस्य निर्माण किया परंतु वास्तविक सामंजस्य निर्माण करने में यह मनोवृत्ति असमर्थ होने से वह निर्माण नहीं हुआ। उसका भी कारण है। सहिष्णुता में यह भावना निहित होती है कि सहिष्णुता सुविधाजनक होती है, उसके कारण कलहों का परिहार होता है। परंतु सत्य का साक्षात्कार करने की प्रतीति का इसमें एकदम अभाव है। परिणामतः मन पर जो पवित्रता का संस्कार होना चाहिए वह करने की क्षमता सहिष्णुता के विचार में नहीं है क्योंकि सहिष्णुता की आवश्यकता न हो, अथवा सहिष्णुता सुविधाजनक न हो अथवा असहिष्णुता ही सुविधाजनक हो तो यह भाव अबोध-पूर्वक मन पर अंकित होता है कि इस सहिष्णुता के उपदेश के विरुद्ध विद्रोह कर अन्य मान्यता वाले लोगों पर अपने विचार लादने में अथवा लादने के विरोध में उनके द्वारा प्रतिकार किये जाने पर आक्रमण करने में व्यक्ति के लिए कोई प्रत्यवाय नहीं। स्पष्ट है कि व्यक्ति की स्वमतांधता (fanaticism) जनित दुष्ट बुद्धि सहिष्णुता के विचार से दब सकती है, नष्ट नहीं हो सकती। और इसलिए अनुकूल अवसर आने पर दूने उत्साह से विध्वंसक बन सकती है।

हमारा अचूक निदान एवं अमोघ चिकित्सा

हमारे धर्माचार्यों ने इस संकुचित मनोवृत्ति को केवल दबाया ही नहीं, अपितु सत्य का साक्षात्कार कर उसका निर्भयतापूर्वक प्रतिपादन किया। उन्होंने आत्म-चिंतन किया, अन्वेषण किया और सत्य का साक्षात्कार कर देखा कि—

'इंद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति
अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः॥' ऋग्वेद

अर्थात् (उसे) इंद्र, मित्र, वरुण, अग्नि, कहते हैं। वह दिव्य सुपर्ण गरुत्मान् (है)। वह सत्य है, विद्वान् (लोग) अग्नि, यम, मातरिश्वा अनेक प्रकार से (उसका) वर्णन करते हैं।' मनु भी कहते हैं कि—

'एतमेके वदंत्यग्निं
मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इंद्रमेके परे प्राण-
मपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।'

अर्थात् 'कोई अग्नि, अन्य मनु प्रजापति, कोई इंद्र, कोई प्राण, (और) कोई शाश्वत् ब्रह्म कहते हैं। परमात्मा को जिसने जैसा अनुभव किया वैसा उसका वर्णन किया। यह प्रतिपादन करने पर मन में प्रश्न उठेगा कि एक ही वस्तु प्रेक्षक को भिन्न-भिन्न रूपों में कैसे दिखेगी? प्रत्यक्ष का ज्ञान तो सबको समान होना चाहिए। यह तो ठीक है। तथापि हम यह नित्य अनुभव करते हैं कि तीक्ष्ण एवं व्यापक दृष्टि वाला व्यक्ति किसी वस्तु को अधिक स्पष्ट रूप से और दूर दृष्टि से देख सकता है, जब कि मंद दृष्टि वाले व्यक्ति को वह वस्तु अस्पष्ट रूप से दिखाई देगी। पुनः किसी विशाल पर्वत के तले जाकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर खड़े भिन्न व्यक्तियों में से एक को उस पर उगा हुआ वृक्ष दिखेगा, कोई उसकी मिट्टी देखेगा, कोई उसकी चट्टान के सामने खड़ा होगा और कोई उसमें से बहने वाले झरने को देखकर अपनी तृषा शांत कर लेगा। तो क्या वह पर्वत केवल वृक्ष रूप है अथवा मिट्टी अथवा चट्टान अथवा उसमें से बहने वाला पानी? दूर जाकर खड़े व्यक्ति को ये सब रूप दिखेंगे और कौन कहे उस पर्वत के गर्भ में सुवर्णादि धातुएं अथवा ज्वालामुखी हो और, और भी कुछ अकल्पनीय वस्तुएं हों। वैसे ही परमात्मा का चिन्तन कर, उसकी विशालता को अनुभव कर, हमारे द्रष्टा उसका वर्णन करते-करते थक गए और कह उठे 'एतावानस्य महिमाअतो ज्यायांश्च पुरुषः।' पु० सू० ऋग्वेद। अर्थात् 'इतनी इसकी महिमा है (परन्तु) वह इससे भी बड़ा है। उन्होंने यह भी 'देखा' कि 'यतो वाचों निवर्तंते अप्राप्त मनसा सह।' तैत्तिरीयोपनिषद् २-६-१ अर्थात्, 'जहां से मनसहित वाणी उसे प्राप्त न करके वापस लौटती है।' याने उसकी भव्यता अवर्णनीय है, अकल्पनीय है।

विविध उपासनाओं में सामंजस्य—फिर उन्होंने यह भी देखा जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं कि विकास की प्रक्रिया में प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी सीढ़ी पर खड़ा होने के कारण वहां से और अधिक ऊपर उठने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न-भिन्न उपदेश ही करना होगा। अतः इस शाश्वत् सत्य का साक्षात्कार करने के लिए विविध प्रकार के उपासना मार्ग उन्होंने बताए। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि—

'येऽप्यन्यदेवता भक्ता
यजंते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौंतेय
यजंत्यविधिपूर्वकम् ।।' गीता ६-२३

अर्थात् 'हे अर्जुन। यद्यपि श्रद्धा से युक्त हुए जो सकाम भक्त दूसरे देवताओं को पूजते हैं वे भी मेरे को ही अविधिपूर्वक पूजते हैं।' भिन्न उपासना मार्ग बताने पर सब एक ही गंतव्य को कैसे पहुंच सकेंगे यह शंका मन में आ सकती है। परन्तु वस्तुतः शंका करने का कोई कारण नहीं प्रत्येक की क्षमता एवं पात्रता जैसी होगी वैसा उसका मार्ग भी भिन्न होगा। एक मनुष्य को वृक्ष की शाखा पर जा बठना हो तो तने के सहारे धीरे-धीरे चढ़ने का ही उपदेश उसे करना होगा, क्योंकि उसके लिए वही संभव है, जबकि एक पक्षी उड़कर उसी स्थान पर एक ही क्षण में जाकर बैठ सकता है। कुंभ के मेले के पर्व पर तीर्थराज प्रयाग में त्रिवेणी संगम पर स्नान कर पुनीत होने की इच्छा रखने वाले गोहाटी एवं कराची के व्यक्तियों को विरुद्ध दिशा में अर्थात् अनुक्रम से पश्चिम एवं पूर्व दिशा में जाने के लिए मार्गदर्शन करना उचित है। दोनों को एक ही दिशा में जाने की यदि राय दी गयी तो गोहाटी अथवा कराची के व्यक्ति को प्रयाग से—गंतव्य स्थान से—दूर जाना पड़ेगा। स्पष्ट है कि प्रत्येक की स्थिति, पात्रता, रुचि, प्रवृत्ति एवं अधिकार के अनुसार भिन्न उपासना के मार्ग होना बिलकुल स्वभाविक है, अपरिहार्य है। अतः समस्त विविध उपासनाएं एक ही गंतव्य को अंततोगत्वा पहुंचाती हैं, यह हमारी दृढ़ श्रद्धा है।

इन दोनों सत्यों को—(१) परमात्मा की अनंत महिमा एवं (२) उसकी प्राप्ति के लिए यथाधिकार अनेक उपासनाओं की अपरिहार्यता को देखने के पश्चात् हमारे आचार्यों ने निर्भयतापूर्वक लोगों के सम्मुख उनका प्रतिपादन किया। अन्य संदर्भ में "Society" नामक अपने ग्रंथ में R. M. Maciever और Charles H. Page कहते हैं कि—

"The risk of nonconformity by displaying too much toleration or understanding of the outsider or by being critical of group sanctioned intolerance, is a risk relatively few individuals are willing to take."

अर्थात् 'परायों को (उनकी मनोभूमिका को) सहन करने अथवा समझने की इच्छा को व्यक्त करने से जनित असहमति (प्रतिकूलता) के कारण, अथवा अपने गुट की मान्य असहिष्णुता के आलोचक होने के कारण जो संकट उत्पन्न होता है 'उसे कोई भी मोल लेने की इच्छा नहीं करता।' 'उसे कोई भी मोल लेने की इच्छा नहीं करता' यह अनुवाद करने का कारण अंग्रेजी समझने वाले जानते हैं कि a few के बदले जब केवल few शब्द का उपयोग किया जाता है तब उसका निःसंदिग्ध रूप से यह अर्थ होता है कि No in individual is willing to take यानी 'उसे कोई भी मोल लेने की इच्छा नहीं करता।' परन्तु हमारे द्रष्टाओं ने सत्य का साक्षात्कार न केवल दूसरों के प्रति सहिष्णुता बतायी अपितु दूसरों को (उनकी

धारणाओं को) समझा यानी वे भी सत्य का साक्षात्कार करते हैं, यह समझ लिया और अपने गुट की असहिष्णुता के बारे में—यदि वैसी असहिष्णुता रही हो तो—उसे दूर करने की दृष्टि से कहा कि 'उस एक ही सत्य का भिन्न-भिन्न प्रकार से विद्वान् वर्णन करते हैं।' और 'जो दूसरे देवताओं को पूजते हैं वे भी मेरे को ही पूजते हैं।' दूसरों के प्रति केवल सहिष्णुता ही नहीं अपितु उनके साक्षात्कार से मेल खाने वाली अपनी अनुभूति प्रदर्शित करने वाला यह प्रतिपादन कितना सत्य है! कितना तर्कनिष्ठ है! कितना निःसंदिग्ध रूप में स्पष्ट है! कितना निर्भय है। कितनी उदारहृदयता का द्योतक है! अतएव कितना सर्व-समावेशक एवं सर्व-संग्राहक है! हम जरा सोचें!

उनके श्रोता भी उच्च कोटि के रहे—यहां यह उल्लेख करना भी अपना कर्त्तव्य है और अनुल्लेख अकृतज्ञता का परिचायक होगा कि उस प्राचीन काल में इन ऋषियों के जो श्रोता थे उन्हें भी यह श्रेय है कि उनकी इन विचारों से सहमति रही, अथवा उन्हें भी सत्य की पूर्णरूप से न हो तो अंशमात्र में अनुभूति हुई अथवा अपने आचार्यों के इन गंभीर विचारों को—उपदेश को—आत्मसात् करने के लिए पर्याप्त मात्रा में विशाल अंतःकरण एवं सुविकसित बुद्धि उन्होंने धारण की अथवा 'एक सद् विप्रा बहुधा वदंति' का साक्षात्कार करने की उनमें भी पात्रता थी और इन उपदेशों से वह दृढ़ हुई। यानी सारा समाज ही विचार एवं आचार से उच्च स्तर का था, विशाल हृदय का था। अन्यथा गेलिलियो को जो परिणाम अपने ही बंधुओं के हाथों भुगतने पड़े वे उन द्रष्टाओं को भी अनुभव करने पड़ते।

इन संस्कारों का परिणाम—इन विचारों का प्रभाव स्वाभाविकतया हमारी पुण्य भूमि में इतना गहरा है कि अद्वैतवादी हो अथवा द्वैतवादी, निर्गुणोपासक हो अथवा सगुणोपासक, शैव हो अथवा वैष्णव, गाणपत्य हो अथवा शाक्त ये सब वेद प्रामाण्य मानने वाले ही नहीं अपितु वेदप्रामाण्य न मानने वाले बौद्ध हों अथवा जैन सबकी यही श्रद्धा है कि सबका गंतव्य एक ही है। बसवेश्वर द्वारा प्रणीत लिंगायत पंथ अथवा गुरु नानक द्वारा प्रणीत सिख पंथ भी यही श्रद्धा अपनाए हुए हैं। अभी-अभी जन्मे आर्य समाज में प्राथमिक अवस्था में यद्यपि असहिष्णुता थी तथापि वह भी अब मंद हो गयी है एवं उस पंथ ने इस सत्य को स्वीकार किया है। ये लोग अपने अन्य धार्मिक ग्रंथों की ओर श्रद्धा से देखने लगे हैं। ईश्वर के अस्तित्व को न मानने वाले नास्तिक भी अपने जीवन में पवित्र आचरण कर शाश्वत सुख की प्राप्ति के मार्ग के राही हैं यह हमारी श्रद्धा है विधिनिषेध की मर्यादा को ठुकराकर दुष्ट प्रवृत्ति के लोग भी अंततोगत्वा सुख की खोज में ही प्रवृत्त होते हैं—फिर भले ही शाश्वत सुख के बदले क्षणिक सुख की उन्हें उपलब्धि होती हो, तथापि यह सुख क्षणिक है, शाश्वत नहीं यह अनुभव उन्हें कभी-न-कभी होगा और यथासमय शाश्वत सुख की प्राप्ति की ओर वे अग्रसर होंगे, उनका मार्ग

टेढ़ा-मेढ़ा अतएव लंबा होने से अनेक जन्मों के पश्चात् उन्हें चिरंतन सुख प्राप्त होगा, परंतु होगा अवश्य, यही हमारा दृढ़ विश्वास है। परम शैव पुष्पदंत ने महामहिम भगवान् श्री शंकर की स्तुति करते हुए ठीक ही कहा है कि—

'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।'

अर्थात् 'भिन्न रुचि वाले सरल, वक्र एवं नाना मार्गों के अनुगामी लोगों का (हे प्रभो!) तू वैसा ही गंतव्य है जैसे सब नदियों का गंतव्य सागर है।'

आचार्यों ने सत्य को साक्षात् कर जो देखा वही ऊपर लिखे अनुसार निर्भयतापूर्वक लोगों के सम्मुख रखा। परिणामतः एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में हमारी इस पुण्यभूमि में सामंजस्य निर्माण हुआ। मतभेद के प्रति सहिष्णुता रखो, सहिष्णुता का व्यवहार सुविधाजनक है ऐसा उन्होंने उपदेश नहीं किया अपितु सापेक्ष रूप से (relatively) दूसरों का प्रतिपादन सत्य है यह संस्कार उन्होंने किया। परिणामतः स्वाभाविक रूप से उत्पन्न सामंजस्य के कारण जो हमारा स्वस्थ आत्मिक विकास हुआ उसने परस्परानुकूलता निर्माण की और फलतः एक आनुषंगिक परिणाम (Incidental effect) के नाते हमारी भूमि में भौतिक विकास भी हुआ। सबका दृष्टिकोण उनके लिए ठीक है और सब ही मार्ग अन्तिम सत्य की ओर ले जाने वाले हैं—अर्थात् 'सबकी मान्यताओं को मान्यता देना यही हमारी मान्यता है यह तत्त्व समस्त संसार के लिए अनुकरणीय है। (१) M. C. Maciver एवं Charles H. Page अपनी Society नामक पुस्तक में कहते हैं :

"The great religions that originated in the western world and have spread in modern times, Judiasm, and Christianity, and Muhammadanism and at least one of the oriental religions, Shintoism have rarely achieved such great breadth and tolerance; on the contrary, they have often been associated with tribal and national aspirations with intolerance of one another at times with bloody conflicts. Perhaps we have much to learn as one philosopher, (F.S.C. Northrop; The meeting of the East and West) has recently argued from the more flexible and more inclusive 'religious philosophies' of the East." हमारे धर्म की गतिशीलता, सर्वसंग्राहकता एवं लचीलेपन का पाश्चात्य तत्त्वज्ञानी लोगों द्वारा दिया हुआ यह सुस्पष्ट प्रशस्ति पत्र है।

: १२ :

क्रान्ति नहीं विकास

पाश्चात्यों का अधानुकरण—पाश्चात्य देशों ने गत तीन-चार शताब्दियों में जो वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा भौतिक प्रगति की उसके कारण तथा अपनी कुटिल राजनीति के कारण उन्होंने जो सारे संसार में अपनी सत्ता प्रतिष्ठित की, उसका एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि उनके गुणों का और अवगुणों का भी सर्वत्र अधानुकरण होने लगा। उनमें जो गुण हैं उनका तो, स्पष्ट है, स्वागत कर, अपने आदर्शों के अनुसार उन्हें ढालकर हमें उन्हें आत्मसात् करना चाहिए। परंतु उनके दोषों को अपनाना सर्वथा अनुचित है। तथापि उनकी भौतिक प्रगति से प्रभावित लोगों में इतना विवेक कैसे रहेगा ? अत: बुराइयों का भी, वे अनुकरणीय हैं ऐसा सोचकर, अनुकरण होने लगा।

उनमें एक दुर्गुण है क्रांति के विचार का अनुसरण। व्यक्ति समाज में जो सुधार करना चाहता है—फिर वे समाज में रूढ़ कुरीतियों के बारे में हों, अथवा राजकीय व्यवस्था से संबधित हों, अथवा उसे न जंचने वाली अन्य बातों के बारे में हों—उनके लिए वह आजकल अधीर हो उठता है, असहिष्णु होता है। उन लोगों से जो भिन्न मत रखने वाले हैं, द्वेष करने लगता है और इसलिए पहली व्यवस्था को नष्ट कर एक झटके में सुधार हो इसलिए प्रयास करता है। इस प्रयास को करते समय रक्तपात हुए हैं। इस प्रकार एक झटके में पूर्ववर्ती व्यवस्था को नष्ट कर जो परिवर्तन किया जाता है उसे आजकल क्रांति कहा जाता है।

क्रांति शब्द का अर्थ—क्रांति शब्द का आज जो रूढ़ार्थ है कि पहले एक झटके में पूर्ववर्ती व्यवस्था को तोड़ना, नष्ट करना और पश्चात् ही निर्माण करना यानी जिसके लिए अंग्रेजी में समानार्थक शब्द है revolution वह अर्थ मूल संस्कृत भाषा में नहीं है। संस्कृत में उसके अर्थ हैं: (१) आगे बढ़ना, (२) आक्रमण करना, (३) ग्रसित करना, आदि। आक्रमण करना अथवा ग्रसित करना इन अर्थों को ही लक्षणा से आज का रूढ़ार्थ revolution प्राप्त हुआ होगा।

इस प्रकार की क्रांति अपने लम्बे राष्ट्र जीवन में प्रमुख रूप से केवल दो बार हुई और वह भी केवल राज्य परिवर्तन की दृष्टि से हुई। एक है पौराणिककालीन

जब वेन राजा का वध किया गया। वह बहुत दुष्ट था और प्रजा पर अत्याचार करता था। अतः उसका वध कर उसके पुत्र पृथु को राजा बनाया गया। उसी के कारण अपनी धरती को पृथ्वी यह नाम प्राप्त हुआ। दूसरी है इतिहासकालीन जब नंदों का वध किया गया। वे भी दुष्ट थे। भोग-विलास में लिप्त थे और राष्ट्र रक्षा के लिए अक्षम थे। अतः उनको मारकर चंद्रगुप्त मौर्य को सम्राट बनाया गया। परन्तु सारे सामाजिक सुधार कभी भी क्रांति के मार्ग से नहीं अपितु लोक शिक्षा द्वारा संस्कार के मार्ग से ही किए गए। हमारे यहां जिनका साम्राज्य था, उन अंग्रेजों के यहां केवल एक ही बार इस प्रकार क्रांति का प्रयास किया गया और वहां के राजा को शूली पर चढ़ाया गया। परन्तु चूंकि अन्य पाश्चात्य देशों में इसी प्रकार प्रयास किए जाते हैं और चूंकि उन्होंने काफी भौतिक प्रगति की है अतः उनसे प्रभावित हमारे यहां के अधीर लोग इस क्रांति के विचार का शिकार बने हैं, फिर चाहे वह रक्तरंजित ही क्यों न हो। इस विचार से प्रभावित लोगों की आज अपने यहां संख्या बढ़ी है। अतः इस मार्ग का तथा समाज में व्याप्त कुरीतियों अथवा राजनीति में प्रचलित कुव्यवस्थाओं को बदलने के लिए हमारे धर्म द्वारा प्रदत्त मार्गदर्शन का विचार करना उचित होगा।

सचेतन पर कृत क्रिया के भिन्न परिणाम—व्यक्ति अथवा समाज में सुधार करने की प्रक्रिया सचेतन पर करने की प्रक्रिया है। अचेतन पर करने की प्रक्रिया जैसी नहीं। हमें किसी पाषाण अथवा काष्ठ की प्रतिमा तैयार करनी हो तो उसके लिए आवश्यक उपकरण लेकर, एकतरफा प्रयास कर, हम जैसी चाहें वैसी प्रतिमा तैयार कर सकते हैं और जिस पर हम संस्कार करते हैं वह जड़ होने के कारण उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। पत्थर अथवा लकड़ी बहुत सख्त हो तो वह टूट सकती है। इससे अधिक दूसरी कोई प्रतिक्रिया नहीं हो सकती। परन्तु यहां, जैसा कि प्रकरण तीन में कहा गया है, सचेतन पर क्रिया करनी है। हमारे द्वारा की हुई क्रिया के प्रति उसकी अपनी कोई प्रतिक्रिया होती है। किसी बिल्ली के पीछे हम डंडा लेकर दौड़ें तो वह प्रथम भागेगी और पीछा करने पर उसे आगे जाने के लिए रास्ता न मिला तो लौटकर हम पर हमला बोलेगी। यानी हमने एक ही क्रिया दो बार की तो दोनों समय भिन्न परिस्थिति होने से भिन्न प्रतिक्रियाएं बिल्ली के व्यवहार में प्रकट हुईं। फिर जो बहुत अधिक संवेदनशील है और जिसका मन अनेक गुत्थियों से युक्त है उस मनुष्य की तो अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएं होना स्वाभाविक है।

प्रतिक्रियाएं : उनके प्रकार—जब रक्तपात द्वारा क्रान्ति करने का प्रयास किया जाता है तब पहली प्रतिक्रिया तो यह होती है कि जिस पर क्रिया करने का प्रयास किया जाता है वह यदि दुर्बल मनस्क हो तो वह भय के कारण झुक जाता है और आक्रामकों के इशारे पर यंत्र जैसा काम करता है यानी चेतनाहीन बना

जाता है। उस स्थिति में उसके आत्मिक विकास में कुंठा उत्पन्न होती है। और वह यदि निर्भय हो तो उसकी अपने विचारों पर निष्ठा बढ़ती है।

दूसरी प्रतिक्रिया यह होती है कि वह भी असहिष्णु हो जाता है और परिणामतः क्रिया करने वालों का शुभ हो जाता है।

तीसरी प्रतिक्रिया यह होती है कि आपाततः क्रान्ति में सफलता मिली तो भी उसका प्रेरणास्थान द्वेष होने से वहां विवेक का अभाव होता है अतः यह अनुभव आता है कि कई बार क्रान्ति की परिणति अपने उद्देश्य के विपरीत कर्म करने में अथवा परिणाम निकलने में होती है। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फ्रान्स में भीषण विषमता थी। एक ओर थे भोग एवं विलास में मग्न वहां का सम्राट और उसके सरदार और दूसरी ओर थी वहां की भूखी-प्यासी, नंगी जनता। अतः वह स्थिति असह्य होने से वहां के चिंतनशील लोगों ने इसके विरोध में भाषण दिये, लेख लिखे, इस भीषण विषमता का समग्र चित्रण करने वाले उपन्यास लिखे और एक तीन T's का नारा चल पड़ा : Liberty, equality and fraternity. यानी स्वतंत्रता, समता और बंधुता। वहां क्रान्ति हुई। वहां के सम्राट को लोगों ने शूली पर चढ़ाया। उसके सारे राजवंश को निर्वंश किया परन्तु समाज में जो द्वेष की मनोवृत्ति जन्मी उसने द्वेष का विषय न रहने पर आपस में द्वेष किया और एक-दूसरे का गला घोंटा। अराजकता उत्पन्न हुई। तब सेना का एक कर्तृत्व संपन्न सेनानी नेपोलियन अग्रसर हुआ। सारे समाज को उसने नियंत्रित किया और वहां का सम्राट बन बैठा। यानी इस सारे प्रयास की परिणति पुनः विषमता और व्यक्ति की परतंत्रता को प्रतिष्ठित करने में हुई, यह हम सब जानते हैं।

इस शताब्दी के पूर्वार्ध में रूस में ज़ार के अत्याचारों के विरोध में क्रान्ति हुई। उसके भी सारे वंश को निर्वंश किया गया। उसके पश्चात् साम्यवाद (communism)—श्रमिकों के अधिनायकवाद—के रूप में वहां अपने से असहमति रखने वाले लोगों पर पुनः अत्याचार होने लगे। यानी चोला बदला तथापि अंतर्निहित दुष्ट प्रवृत्तियां ज्यों-की-त्यों विद्यमान हैं। पहले से चली कुरीतियां ज्यों-की-त्यों बनी हुई हैं, यह भी हम सबको विदित है।

चौथी प्रतिक्रिया यह होती है कि जब कभी रक्तपात द्वारा सुधार लादे जाते हैं तब दूसरी ओर से भी शस्त्रों का सहारा लिया जाता है। परिणामतः क्रान्ति के कारण समाज सदा के लिए दो गुटों में बंट जाता है। जहां-जहां रक्तपात द्वारा क्रान्ति लादी जाती है वहां-वहां समाज दो गुटों में बंटा हुआ दिखाई देगा। याने समाज का धारण होना तो दूर रहा, विघटन होता है। अतः धारण करना ही जिसका प्रमुख उद्देश्य है हमारे धर्म ने उस क्रान्ति को निषिद्ध माना है। क्रान्ति एक तामस कर्म है। तामस कर्म का लक्षण बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'अनुबंधं क्षयं हिंसा-
मनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म
यत्ततामसमुच्यते ।।' गीता १८-२५

अर्थात् 'जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचार के केवल अज्ञान से किया जाता है, वह तामस कर्म कहा गया है।'

क्रान्तिवाद विज्ञान की कसौटी के विरुद्ध—क्रान्तिवादियों का सिद्धांत विज्ञान की कसौटी पर भी खरा नहीं उतरता। उदाहरणार्थ प्राणि जगत् के विकास की प्रक्रिया को ही लें तो अमीबा से मानव तक की विकास यात्रा भी शनैः-शनैः होने वाले परिवर्तनों (Changes) और अनुकूलनों (Adaptations) से ही करोड़ों वर्षों की अवधि के पश्चात् हुई है और यह क्रम आगे भी अनंतकाल तक चलने वाला है। यह जीवशास्त्रविदों का सिद्धांत है।

अभी जो है उसमें परिवर्तनों और अनुकूलनों से ही नवीनता की ओर बढ़ने की बात प्रयोगों द्वारा सिद्ध हो चुकी है। पैतृक गुणों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में D N A (Deoxyrhibose Neuclitic Acid; Genes are accumulation of D N A molecules) के जटिल अणु प्रतिष्ठापित करते हैं। उन पर बहुत अनुसंधान हो चुका है। टेलर, मेसेल्सन एवं स्टाल ने इस अणु के विभाजन एवं निर्माण की प्रक्रिया में पाया कि पहले तो यह द्विधा विभक्त होता है। फिर प्रत्येक अर्धांश अपने साथ का नया अर्धांश बनाकर दो अलग पूर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार मूल व्यवस्था और तत्त्व नष्ट नहीं होते। प्राणियों में गुण परिवर्तन इसी D NA की सूक्ष्म परमाणु व्यवस्था में किंचित् परिवर्तनों के कारण होते हैं। विकसित गुणों की अभिव्यक्ति इन्हीं छोटे-छोटे परमाणुओं की व्यवस्था में हेरफेर से होती है इसे नोबेल पुरस्कार विजेता डा० हरगोविन्द खुराना ने अभी अपने जेनेटिक कोड (Genetic Code) के सिद्धांत में पतिपादित किया है।

याने D N A की व्यवस्था में परिवर्तन ही विकास की जड़ है यह मान्यता थी। परन्तु दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या शरीर पर पड़े संस्कार निष्प्रभ हैं? १९७२ तक वैज्ञानिकों की यही मान्यता थी और इसलिए अपने धर्म के संस्कारवाद को और विकासवाद के लैमार्कवाद (Lamarkism) को आधुनिक विज्ञान में कोई स्थान नहीं था। परन्तु १९७२ में एच्० एम्० टेमिन नामक युवा वैज्ञानिक के शोध पत्र के पश्चात् स्थिति बदली। टेमिन के Reverse Transcriptase नामक प्रोटीन एंजाइम की खोज ने यह स्पष्ट किया कि शरीर पर पड़े शनैः-शनैः संस्कारित गुण अगली पीढ़ी में D N A के माध्यम से जाते हैं। इस आविष्कार से अपने धर्म के संस्कारवाद की प्रभाविता नवीनतम उपलब्धियों से स्थापित हुई है। तथा हमारा धर्म इससे भी आगे बढ़कर यह प्रतिपादन करता है

कि नित्य किये गये संस्कारों द्वारा इसी जीवन में, न केवल शरीर पर और न केवल मनुष्य की ही अपितु अन्य प्राणियों की भी मनःप्रवृत्ति में सुधार किया जा सकता है। केवल अन्तर इतना ही है कि इस जीवन में मानव का असीम अर्थात् ईश्वरत्व तक विकास हो सकता है परन्तु अन्य प्राणियों का विकास ससीम होगा।

विधान द्वारा बलात् सुधार लादने की योजना—यद्यपि इस प्रकार संस्कारों की प्रभाविता विज्ञान द्वारा सिद्ध हो चुकी है तथापि एकदम परिवर्तन कर सुधार करने के लिए अधीर, तथापि रक्तपात न हो यह विवेक धारण किये हुए, लोग उस अधीरता के कारण दूसरे मार्ग से तुरन्त सुधार लाने के लिए प्रयत्नशील दिखते हैं वह मार्ग है शासन की बागडोर अपने हाथ में जनतंत्रात्क पद्धति से लेकर सुधार करने के लिए विधान बनाने का। इसे अपने यहां रक्तहीन क्रान्ति कहा जा रहा है। अब यह बात तो निःसंदेह है कि यह प्रयास काफी सुसंस्कृत है जबकि पहला एकदम पाशवी है। पुनः अति दुष्ट लोगों को अनुशासन में रखने के लिए इस प्रकार कोई व्यवस्था आवश्यक होती है। अतएव हमारे धर्माचार्यों ने इस दृष्टि से विधि-निषेधात्मक व्यवस्था बनायी यह हम पहले प्रकरण १० में पढ़ चुके हैं। तथापि इस प्रकार बलात् लादी गयी व्यवस्था भी बहुत थोड़ी मात्रा में सफल होती है। क्योंकि बलात् लादी गयी व्यवस्था में व्यवहार भय प्रेरित होता है। उसमें अंतः-प्रेरणा का अभाव रहता है। परिणामतः आत्मिक विकास नहीं होता।

उससे होने वाली हानियां—आत्मिक विकास के अभाव में एक हानि तो यह होती है कि समाज के विचार एवं आचार के स्तर से अधिक ऊंची श्रेणी के विधान बनाये गये तो समाज उनका उल्लंघन करता है कंट्रोल (जीवनावश्यक वस्तुओं के आवागमन एवं मूल्य पर नियंत्रण) दहेज निषेध आदि अनेक विधान कैसे उप-हासास्पद होते हैं यह अपना नित्य का अनुभव है। इंग्लैंड की सोलहवीं शताब्दी की सामाजिक स्थिति का वर्णन करते हुए Froude नामक एक इतिहासकार ने लिखा है कि "No Laws which are above the level of public morality are of any use to it and the deeper they are carried into life, the larger become the opportunities of evasion."

अर्थात् 'सामाजिक नीति के स्तर से उच्चस्तर के बनाये गये विधान समाज के लिए निरुपयोगी होते हैं और उन्हें जितना अधिक क्रियान्वित किया जाता है उतने अधिक उन्हें टालने के लिए अवसर मिलते हैं।'

दूसरी हानि यह होती है कि 'बूढ़ी मरी सो मरी, पर मौत ने घर देख लिया' की कहावत चरितार्थ होती है। एक बार विधान का उल्लंघन करने का प्रयास सफल हुआ कि उसके पश्चात् जिन विधानों को सरलता से व्यवहार में उतारा जा सकता है उन विधानों का भी उल्लंघन करने की प्रवृत्ति बढ़ती है। परिणामतः जीवन विश्रृंखलित होता है। मद्यपान जब निषिद्ध था तब अवैध रूप से शराब

गलाने की, बेचने की, और पीने की जो आदत लोगों को लगी वह अब शराब खुले आज मिलनी प्रारम्भ होने के पश्चात् भी चल रही है, यह हम सब जानते हैं। आम यत्र तत्र विधान का उल्लंघन करने की प्रवृत्ति में वृद्धि हुई है उसके जो अनेक कारण हैं उनमें यह एक प्रमुखतम कारण है।

तीसरी हानि यह होती है कि अच्छे उद्देश्य से किये गये प्रयास भी क्यों न हों, उनका न केवल मूल उद्देश्य पूर्ण नहीं होता अपितु और अधिक दुष्परिणाम सामने आते हैं। दासता के विरुद्ध अमेरिका द्वारा पारित विधान की क्रियान्विति के सम्बन्ध में अपना अनुभव बताते हुए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि "The history of the world teaches us that where ever there have been fanatical reforms, the only result has been that they have defeated their own end. No greater upheavel for the establishment of right and liberty can be imagined than the war for the abolition of slavery in America. You all know about it. And what have been its results ? The slaves are a hundred times worse today than they were before abolition"

Before the abolition these poor Negroes were the property of somebody, and as properties they had to be looked after, so that they might not deteriorate. Today they are the property of no body. Their lives are of no value; they are burnt alive on mere pretences. They are shot down without any law for their murders for they are niggers, they are not human beings, they are not even animals; and that is the effect of such violent taking away of evil by law or by fanaticism."

अर्थात् 'संसार का इतिहास हमें बताता है कि जहां कहीं ऐसे जोशीले सुधार किये गये हैं उनका एक ही फल हुआ है कि उन्होंने अपने लक्ष्य को हानि पहुंचायी है। अमेरिका में दास प्रथा को समाप्त करने के लिए जो आंदोलन हुआ, न्याय और स्वतंत्रता के लिए उससे भारी आंदोलन की कल्पना नहीं की जा सकती। आप सब इस बारे में जानते हैं। किंतु उसके परिणाम क्या निकले ? दास प्रथा के उन्मूलन के पूर्व दासों की जो दशा थी उससे सौ गुना खराब आज है।

उन्मूलन के पूर्व ये बेचारे निग्रो लोग किसी-न-किसी निश्चित व्यक्ति की सम्पत्ति होते थे। उनकी चिंता की जाती थी कि कहीं यह सम्पत्ति खराब न हो जाय। आज वे किसी की सम्पत्ति नहीं हैं। जरा-जरा से बहानों को लेकर उन्हें जीवित भून दिया जाता है। उन्हें बिना किसी कारण गोली मार दी जाती है, किंतु उनके हत्यारों के लिए कोई कानून नहीं है; क्योंकि उन्हें मनुष्य नहीं समझा जाता। यहां

तक कि पशु भी नहीं माना जाता। वे काले आदमी हैं। यह फल निकला है किसी बुराई को कानून या कट्टरवादिता के साथ समाप्त करने का।'

स्पष्ट है कि जल्दबाजी में इस प्रकार विधान बनाते समय अपनी कामना तुरन्त पूर्ण हो अथवा अपना उद्देश्य तुरन्त सफल हो यह भावना प्रबल होती है। साथ ही जल्दबाजी में यह कार्य करते समय मेरे द्वारा अथवा मेरे सहयोगियों द्वारा यह उद्देश्य सिद्ध किया गया—यह अबोधपूर्वक क्यों न हो—अहंकार रहता है। अतः यह राजस कर्म है। राजस कर्म का लक्षण बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'यत्तु कामेप्सुना कर्म
साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं
तद्राजसमुदाहतम ॥' गीता १८-२४

अर्थात् 'कामना पूर्ति की भावना वाले व्यक्ति द्वारा अहंभावयुक्त होकर अति परिश्रमपूर्वक जो कर्म किया जाता है उसे राजस कर्म कहा गया है।'

अतः शिक्षा द्वारा संस्कार कर विकास करने का मार्ग सर्वश्रेष्ठ—अतः समाज में रूढ़ कुरीतियों को अथवा समाज में व्याप्त अन्य दोषों के नष्ट करने के लिए ऊपर लिखे अनुसार समझाने-बुझाने का याने शिक्षा द्वारा संस्कार करते हुए विकास करने का मार्ग ही हमारे धर्म ने सर्वश्रेष्ठ माना है। परन्तु शिक्षा द्वारा संस्कार करते समय केवल तर्क शुद्ध विद्वत्तापूर्ण वक्तृत्व एवं लेखन तथा नाटक, सिनेमा, रेडियो, दूरदर्शन आदि के माध्यम से सामूहिक रूप से संस्कार करने का प्रयास किया तो भी वह संस्कार स्थायी होने का भरोसा नहीं रहता। संभव है कि एकाध दूसरा ऐसा व्यक्ति हो कि जिसे ये साधन चिरन्तन प्रेरणा दे जाएं। परन्तु जनसाधारण के लिए वह केवल बहिरंग रह जाता है। उसके कारण अधिक-से-अधिक सहानुभूति का एक सूक्ष्म वलय (Thinnest lair of sympathy) निर्माण किया जा सकता है। तथापि वह अंतःकरण को स्पर्श नहीं करता अतएव चिरंतन प्रेरक नहीं होता। उसे अंतरंग तक प्रभावी करने के लिए व्यक्ति व्यक्ति में आत्मीयता प्रस्थापित कर जहां तत्त्व के प्रचारक अपने स्वयं के आचरण में उसे उतारते हैं वहां शिक्षा द्वारा किया गया संस्कार स्थायी होकर व्यक्ति का विकास करता है। आत्मीयता निर्माण करने के लिए सहवास की आवश्यकता होती है। अतः संस्कार करने के लिए सहवास जैसा अधिकतम प्रभावी और कोई साधन नहीं। इसीलिए उपनिषद् शब्द अपने यहां ज्ञान के लिए पर्यायवाची शब्द बना होगा। उप याने पास निषद यानी बैठना। गुरु के पास जाकर बैठना और ज्ञान ग्रहण करना। अपने यहां एक उक्ति है कि—

'चित्रं वटतरोर्मूले
वृद्धाः शिष्य गुरुर्युवा
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं
शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः ।।'

अर्थात् 'आश्चर्य है कि एक वट वृक्ष के नीचे वृद्ध शिष्य और तरुण गुरु (बैठे) हैं। गुरु का मौन व्याख्यान है और शिष्यों के संशयों का निराकरण हो गया है।' (यानी उनके मन में विचार इतना प्रबल है कि मुक्ति के बदले कृति ही फूट पड़ती है और शिष्यों को बोध होता है) परिणामतः शिष्यों के मन में व्याप्त सारे संशय दूर हो जाते हैं।

(१) **तथ्य : बुद्धिभेद नहीं करना**—चिरंतन परिणाम देने वाला यह प्रयास यद्यपि संस्कार करने का अमोघ साधन है तथापि हमारे धर्म की मान्यता है कि इस मार्ग का अवलंब करते समय कुछ पथ्यों का पालन करना अनिवार्य है। पहला पथ्य यह है कि समाज में विद्यमान श्रद्धाओं का हनन न करते हुए यह संस्कार करने का कार्य करना चाहिए। यह बंधक एक मार्गदर्शक तत्त्व के नाते आचार्यों ने बताया है।

व्यक्ति को कर्म करने के लिए श्रद्धा द्वारा अदम्य शक्ति प्राप्त होती है। 'मूक होई वाचाल पंगु चढ़ई गिरिवर गहन' बुद्धिभेद करने पर—अर्थात् श्रद्धा का हनन करने पर एक बड़ा भारी मानसिक आघात होता है, उसके कारण मनुष्य का दम उखड़ता है, वह टूटता है, और अनेक बार यह अनुभव किया जाता है कि 'इतो नष्टस्ततोभ्रष्टः' जैसी उसकी स्थिति होकर उका सर्वतोमुखी अधःपतन होता है। अतः उसकी पुरातन श्रद्धाओं पर आघात किये बिना पुरातन सिद्धान्तों में निहित अर्थ को आज के संदर्भ में—समझाते हुए उसकी श्रद्धा को और अधिक दृढ़ किया तो व्यक्ति को कर्म करने के लिए अदम्य शक्ति प्राप्त होती है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'न बुद्धिभेदं जनये-
दज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि
विद्वान्युक्तः समाचारन् ।।' गीता ३-२६

अर्थात् 'ज्ञानी पुरुष (को चाहिए कि) कर्मों में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करें (किन्तु स्वयं) परमात्मा के रूप में स्थित हुआ (और) सब कर्मों को अच्छी प्रकार करता हुआ (उनसे भी वैसे ही) करावें।

इस दृष्टि से हमारे यहां पुरातन श्रद्धा को नष्ट किये बिना नया विचार लोगों के सम्मुख रखने के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ जब बहुत बड़ी मात्रा में यज्ञ होने लगे और पशुवध होने लगा तब लोग केवल कर्मकांडी बन

चुके थे। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' अर्थात् 'वेद मंत्र क्रियामूलक होने से' इस जैमिनी के सूत्र के अनुसार वैदिक कर्म करना मात्र पर्याप्त माना जाता था। और 'आनर्थस्यमतदर्थनाम्' अर्थात् '(इसलिए) जिन वेद मंत्रों में क्रिया अभिप्रेत नहीं है, वे वेदमंत्र निरर्थक हैं।' इस दूसरे सूत्र के अनुसार 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्य...' बृहदारण्यकोपनिषद् ४-५-६ अर्थात् 'आत्मा का दर्शन श्रवण मनन...करना चाहिए।' आदि मंत्र अनर्थक हैं यह माना गया। परिणामतः आत्मचिंतन अनर्थक माना गया। आत्मचिंतन के अभाव में जीवन में दंभ छा गया था। व्यक्ति के आत्मिक विकास में कुंठा उत्पन्न हुई थी। उस समय के मनीषियों को यह दुःस्थिति बहुत खटकने लगी जिसका परिणाम भागवत, शैव एवं अन्य संप्रदायों के उदय में हुआ। इस धर्म के प्रवर्तकों ने यज्ञ क्रिया की निंदा नहीं की अपितु यज्ञ शब्द को नया अर्थ प्रदान किया। वह अर्थ है पवित्र कृति। ब्रह्म यज्ञ, पितृ यज्ञ, देव यज्ञ, भूत यज्ञ एवं नृयज्ञ करने का आग्रह किया गया। इनमें से केवल देव यज्ञ याने अग्नि को आहुति देना प्रतीक के रूप में अंगीकृत किया गया और अध्ययन, अध्यापन, आत्मचिंतन, उपासना, पितृतर्पण, भूतमात्र के लिए तथा मानव के लिए सेवाभाव के रूप में अन्य यज्ञ (पवित्र कृतियां) विहित किये गये। परिणामतः पुरातन श्रद्धाओं का हनन किये बिना, अथवा यह कहना उचित होगा कि उसी सूत्र को और अधिक विकसित करने से दूसरे पवित्र कर्म करने की एवं आत्मचिंतन करने की लोगों को प्रेरणा मिली। इसी कारण से यज्ञ को आहुति देना याने त्याग करना यह अर्थ भी प्राप्त हुआ और उससे लोगों को समाज कार्य के लिए त्याग करने की प्रेरणा मिली, आज भी मिलती है।

यहां यह भी स्मरण करना उचित होगा कि वेद एवं भगवद् गीता पर अपने समाज की बहुत श्रद्धा है। अतः केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत अथवा द्वैतवाद के जो भिन्न विचार के दर्शन गत एक सहस्र वर्षों में अपने यहां प्रचलित हुए उनके प्रणेता आचार्यों ने अपने मत का प्रतिपादन करते समय वेदमंत्रों अथवा गीता के श्लोकों का खंडन कर लोगों की श्रद्धा पर आघात नहीं किया अपितु समस्त भिन्न मतावलंबियों ने अपने मत के अनुसार उनकी व्याख्या कर अपने मत के समर्थन में उन्हें उद्धृत किया। याने उस श्रद्धा को और अधिक पुष्ट किया। परिणामतः सन्मार्ग पर चलने की अनेक लोगों को प्रेरणा मिली।

स्वच्छता की एकांतिकता के प्रतिपादन से खानपान निषेध की जो विकृति समाज में रूढ़ हुई, उसके कारण समाज के भिन्न-भिन्न स्तरों में अलगाव की भावना निर्माण हुई। इस विकृति को दूर करने का प्रयास किसी विचारक एवं सुधारक ने जगन्नाथ मंदिर का निर्माण कर 'जगन्नाथ का भात और जग पसारे हाथ' के वाक्य प्रयोग द्वारा किया होगा ऐसा विचार मन में आता है।

कभी-कभी पुरातन श्रद्धाओं पर आक्रामक आघात करने का यदि किसी ने

प्रयास किया तो हम यह अनुभव करते हैं कि उसका कोई परिणाम भी नहीं निकलता और यदि हुआ तो मूल विचार दूसरे रूप में ज्यों-का-त्यों बना रहता है। स्वामी विवेकानंद ने कहा है कि "The introduction of idols into India was the result of Buddhas constantly inveighing against a Personal God. The Vedas Knew them not, but the reaction against the loss of God as Creator and friend led to making idols of the great teachers and Buddha himself became an idol and is worshipped as such by millions of people. Violent attempts at reform always end in retarding reform.

Such is the testimony of history against every fanatical movement, even for doing good."

अर्थात् 'गौतम बुद्ध ने जो सगुण ब्रह्म के विरोध में अविरत आक्रामक प्रचार किया उसकी परिणति भारत में मूर्तिपूजा के श्री गणेश में हुई। मूर्तिपूजा से वेद अनभिज्ञ थे। किन्तु (सृष्टि के) स्रष्टा एवं पालक के स्थान से ईश्वर को हटाने की प्रतिक्रियास्वरूप महान् आचार्यों की मूर्तियां बनाना प्रारम्भ हुआ बुद्ध स्वयं एक मूर्ति (भगवान्) बन बैठे, आज भी लाखों लोग उनकी इसी रूप में पूजा करते हैं। सुधार के उग्र प्रयास सदैव सच्चे सुधार को पीछे धकेलने में परिणत हुए हैं।

प्रत्यक्ष कट्टरपंथी आंदोलन के विरुद्ध यह इतिहास की साक्षी है; भले ही उसका लक्ष्य कल्याण करना क्यों न रहा हो।'

पुनः गौतम बुद्ध द्वारा किये गये कठोर प्रचार के पूर्व लोगों की सगुण ब्रह्म पर ही श्रद्धा रही। मूर्तिपूजा का प्रारम्भ होने पर तो 'साकार' ब्रह्म भी मान्य हो गया।

महर्षि दयानंद द्वारा प्रणीत आर्य समाज ने भी लोगों की श्रद्धा पर विशेष रूप से मूर्तिपूजा पर—कठोर टीका की। परन्तु उसका कोई लक्षणीय परिणाम नहीं हुआ और मूर्तिपूजा बिलकुल पूर्ववत् आज भी समाज में ज्यों-की-त्यों रूढ़ है। यह अपना अभी भी का अनुभव है। इतना ही नहीं अब तो महर्षि के चित्र आर्य समाज मंदिर में भी हमें देखने के लिए मिलते हैं। आदर व्यक्त करने का पूजा एक प्रकार मात्र है। मूर्ति को पुष्पादि अर्पण करना अथवा दीवार पर चित्र टांगना ये आखिर श्रद्धा, आदर व्यक्त करने के भिन्न प्रकार हैं। पुनः यों देखा तो इस प्रकार व्यवहार करने से किसी व्यक्ति को उस अदृश्य, अचिंत्य, सर्वव्यापी परमातमतत्व का यदि स्मरण होता है, अन्तःकरण में सद्भाव जागृत होते हैं, सत्कर्म करने की प्रेरणा और कष्ट सहन करने की सिद्धता होती है और मानसिक शांति प्राप्त होती है तो उसका विरोध करने में मतलब ही क्या? खैर,

अतः यह सावधानी बरतनी होगी कि पुरातन श्रद्धा पर आघात किये बिना

आज के संदर्भ में पुरातन शाश्वत् सिद्धांतों की व्याख्या कर तदनुसार लोगों को उपदेश किया जाय।

(२) **पथ्य : यथाधिकार उपदेश**—मनुष्य का शारीरिक विकास करने के लिए उसकी सहनशक्ति के परे यदि बलात् शारीरिक व्यायाम उससे करवाया गया अथवा उसकी पाचन शक्ति के परे पौष्टिक अन्न उसे खिलाया गया तो उसके हृष्ट-पुष्ट होने के बदले उसमें विकृति आयेगी और वह दुर्बल बनेगा। अतः उसे हृष्ट-पुष्ट करने के लिए शारीरिक व्यायाम की एवं पौष्टिक अन्न की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ानी होगी। पुनः यह मात्रा प्रत्येक पिंड के लिए भिन्न-भिन्न ही रहेगी। उसी प्रकार उसका बौद्धिक एवं मानसिक विकास करने के लिए जल्दबाजी में उसे उपदेश करना, न केवल व्यर्थ होगा अपितु उनमें विकृति भी उत्पन्न करेगा। अतः यथाधिकार उपदेश करना—याने उसकी रुचि, प्रवृत्ति अधिकार एवं ग्रहणानुकूल मनोभूमिका देखकर ही उपदेश करना होगा। इस संबंध में हम विस्तृत रूप से प्रकरण तीन में पढ़ चुके हैं। उसी प्रकार समाज भी अपने ढंग की एक जैव (organic) इकाई है और इसलिए उसकी जितनी ग्रहण शक्ति होगी उतना ही उसे उपदेश करना होगा ताकि वह सुधार कर सके और मानसिकी स्वास्थ्य अच्छा होकर और अधिक उपदेश का वह भाजन बन सके। इस प्रकार समाज के दोष दूर कर उसके विचार एवं आचार का स्तर उन्नत करते हुए और अधिक उन्नत स्तर का उपदेश ग्रहण एवं आत्मसात् करने की उसकी शक्ति बढ़ानी होगी।

(३) **पथ्य : रागद्वेष रहित होकर कर्म करना**—जो लोग कर्म करने को प्रवृत्त होते हैं उनके अंतःकरण में अपने सहयोगियों के प्रति एक स्वाभाविक प्रेम अथवा आत्मीयता होती है। परिणामतः उन सहयोगियों द्वारा संयोगवश किये गये सदोष कर्म का समर्थन करने की प्रवृत्ति होती है। संयोगवश किये गये उस सदोष कर्म का कभी कभी समर्थन करना दूरदृष्टि से आवश्यक भी होता है। परंतु आगे जाकर यह प्रवृत्ति व्यक्ति का स्वभाव बनती है और उन सहयोगियों के प्रति अनुराग अथवा आसक्ति में परिणत होती है। उसी प्रकार समाज में अपने से मतभेद रखने वाले लोगों के प्रति विरोध की भावना होती है। अतः उनके द्वारा संयोग-वश किये गये अच्छे कर्म का भी विरोध करने की प्रवृत्ति होती है जो आगे जाकर स्वभाव बन कर उनके प्रति द्वेष में परिणत होती है। ये दोनों मानसिक अवस्थाएं अर्थात् अपने सहयोगियों के प्रति अनुराग अथवा आसक्ति एवं मतभेद रखने वालों के प्रति द्वेष की भावना विवेक को समाप्त करती है। फलतः विवेक कर उचित निर्णय लेना असंभव हो जाता है। अतः अंतरःकरण में न अनुराग और न द्वेष रखते हुए संस्कार करने का प्रयास करना होगा।

(४) **पथ्य : भावात्मक प्रतिपादन**—इसलिए सुधार करने चल पड़े कार्यकर्त्ता

के लिए यह भी आवश्यक है कि समाज में व्याप्त कुरीतियों पर कड़ा प्रहार करने के बदले—यानी उनके मत का खंडन करने के बदले—स्वमत का प्रतिपादन यानी मंडन करें। अपनी शास्त्र व्याख्यान कुशलता से दूसरों के मत का खंडन कर हम भले ही तर्क में उन्हें पराजित करने का आनंद प्राप्त करें परंतु उसके कारण व्यर्थ कटुता बढ़ती है। और उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। विरोध करने वालों का एक अलग गुट तैयार हो जाता है। तर्क करने में सिद्धहस्त श्री मदाद्यशंकराचार्यजी ने भी अपने 'विवेकचूडामणि' ग्रंथ में कहा है कि—

'वाग्वैखरी शब्दझरी
शास्त्रव्याख्यान कौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्
भुक्तये न तु मुक्तये।।' ६०

अर्थात् 'विद्वानों की वाणी की कुशलता, शब्दों की धारावाहिकता, शास्त्र व्याख्यान की कुशलता और विद्वत्ता भोग ही का कारण हो सकती है, मोक्ष का नहीं।'

समाज परामात्मा का सगुण अंश है यह कल्पना कर उसमें सुधार करने का प्रयास करना चाहिए और इसलिए यह प्रयास पूजा भाव से ही करना चाहिए। पूजा करते समय हमारा यह व्यवहार रहे कि—

'सर्वेषामविरोधेन
ब्रह्मकर्म समारभे।'

अर्थात् 'सबके अविरोध से मैं ब्रह्म कर्म करता हूं।'

(५) पथ्य : अहंभाव का त्याग—अहंभाव का त्याग करना यह पांचवां और प्रमुखतम पथ्य है। इस पथ्य का पालन करना अधिकतम कठिन है। कार्यकर्त्ता में जागृत अथवा सुप्त दोनों प्रकार का अहंभाव रहता है। उसका त्याग करना चाहिए। सुप्त अहंभाव को त्यागना और अधिक कठिन है; क्योंकि वह है, यह उसकी समझ में भी नहीं आता। अतः कार्यकर्त्ता को आत्मचिंतन कर यह सावधानी बरतनी आवश्यक होती है कि उसका स्वयं का अहंभाव और उसका साथ देने वाले कार्यकर्त्ताओं का समाज में सुधारक के नाते अलग गुट याने संस्थागत अहंभाव न रहने पाये। अन्यथा अपने यहां जो अन्य सुधारक पंथों की स्थिति हुई अथवा जो राजनीतिक दलों की स्थिति हुई, वह उनकी भी बनकर रहेगी याने एक विशिष्ट लोक संख्या को अपने विचारों से संस्कारित कर वे सुधार क्रियान्वित कर सकेंगे और वह एक अलग गुट बनकर रह जायेगा। सारे समाज के विचार एवं आचार में सुधार करना फिर उनके लिए असंभव होगा। अतः अपना अलग अस्तित्व न रखते हुए—यानी सुधारक के नाते प्रतिष्ठा प्राप्त करने की व्यक्तिगत अथवा संस्थागत अभिलाषा भी न रखते हुए—सामाजिक जीवन में समरस होकर वैयक्तिक अथवा संस्थागत अहंकार त्याग कर ही इतस्ततः

समाज में मिल-जुलकर रहते हुए समाज पर संस्कार करने का कार्य करना होगा। तब ही किये गये सुधार समस्त समाजव्यापी एवं स्थायी हो सकेंगे।

(६) **पथ्य : फलत्याग**—पुनः यह प्रयास करते समय श्रेयोग्रहण की—फिर वह किसी भी रूप में क्यों न हो—भावना का त्याग करते हुए कर्म करना होगा।

सार यह कि सात्विक कर्म करना होगा। सात्विक कर्म का लक्षण बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि—

'नियतं संगरहित-
मरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म
यतत्सात्विकमुच्यते ।।' गीता १८-२३

अर्थात् 'जो कर्म शास्त्र विधि से नियत किया हुआ, (और) कर्त्तापन के अभिमान से रहित, फल के न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना रागद्वेष से किया जाता है वह सात्विक कर्म कहा जाता है।

इस सारे प्रतिपादन से यह स्पष्ट होता है कि क्रान्ति का उपाय—चाहे वह रक्तरंजित हो अथवा रक्तहीन—राष्ट्र का जीवन शक्तिसंपन्न करने में अनुक्रम से बाधक अथवा अपर्याप्त होता है और इसलिए धैर्य धारण कर संस्कार करने के लिए धर्म द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से ही सुधार करने का प्रयास करना चाहिए। याने धर्म द्वारा जो-जो पथ्य बताये गये उनका भी पालन करना चाहिए। तभी समाज की स्वस्थ प्रगति होकर राष्ट्र जीवनशक्तियुक्त होता है। यह अपने धर्म द्वारा दी गयी व्यवस्था है। राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति के लिए यही मार्ग हमने अतीत में अपनाया था।

: १३ :

राष्ट्रवाद एवं मानवता

हमारा राष्ट्र एवं उसकी विशेषताएं—यह सारा विवेचन इस सत्य का सुस्पष्ट चित्र अपने सम्मुख प्रस्तुत करता है कि धर्म का दायरा केवल एक अथवा अनेक उपासनाओं तक सीमित नहीं अपितु वह सर्वजीवनव्यापी है। व्यक्ति का जीवन पवित्र एवं उन्नत करने की व्यवस्था अपने धर्म ने की है। पुनः धारणा करना ही उसका प्रमुख लक्षण होने के कारण व्यक्ति की गुण विशेषताओं को नष्ट न करते हुए उनका विकास करने की उसमें व्यवस्था है और समाज के सर्वांगीण विकास की उपेक्षा न हो इसलिए व्यक्ति एवं समाज के हितों का सामंजस्य करने की भी धर्म ने व्यवस्था दी है। याने प्रकृति की सारी व्यवस्था ही परस्परपूरक है यह अनुभव कर स्वजीवन का विकास करने के लिए सबको परस्परानुकूल बनाने की व्यवस्था धर्म ने दी और तदर्थ एकात्मता का बोध लोगों को कराया, उनकी रुचि एवं पात्रता को देखकर ही उनका मार्गदर्शन करते हुए उनमें सामंजस्य निर्माण किया और उन्हें संगठित किया। सबको एकात्मता के सूत्र में गूंथने वाला हमारा धर्म इस प्रकार विकसित हुआ।

हमारी संस्कृति—खाओ पिओ और मौज करो यह पशुजीवन का लक्ष्य हो सकता है, मनुष्य का नहीं यह भी हमारे आचार्यों ने अनुभव किया और उच्च लक्ष्य अपने सम्मुख प्रस्तुत करते हुए उन्होंने इसी उपरिनिर्दिष्ट लक्ष्यों से युक्त अपने धर्म के आधार पर अपने सम्मुख चार लक्ष्य रखे जिन्हें पुरुषार्थ चतुष्टय कहा जाता है। वे हैं (१) धर्म, (२) अर्थ, (३) काम और (४) मोक्ष। उस दृष्टि से ऊपरिनिर्दिष्ट व्यक्ति एवं समाज के सामंजस्य के लिए विधिनिषेध-लक्षणात्मक धर्म अपने सम्मुख प्रथम लक्ष्य बताया गया।

दूसरा लक्ष्य है अर्थ। अर्थ का दायरा केवल धन अथवा संपत्ति तक सीमित नहीं है। उपरिनिर्दिष्ट धर्म के आधार पर, धर्म के लिए जो-जो धर्म्य रुचियां मनुष्य में होती हैं उन सबका समावेश अर्थ पुरुषार्थ में होता है और उनकी प्राप्ति के लिए प्रयास करना यह दूसरा लक्ष्य अपने सम्मुख रखा गया।

तीसरा लक्ष्य है काम। काम के बारे में यह एक सामान्य धारणा है कि अपने

धर्म ने काम को सर्वथा त्याज्य माना है। वह निषिद्ध माना है अवश्य। परन्तु वह उनके लिए निषिद्ध माना गया है जो विकास की अंतिम सीढ़ी तक चढ़ चुके हैं। अपने आचार्यों ने यह अनुभव किया, जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि विकास की प्रक्रिया में सब व्यक्ति भिन्न-भिन्न सीढ़ियों पर खड़े हैं और उनके अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए कामना बहुत सहायक होती है। विकास के भिन्न-भिन्न स्तर में भिन्न-भिन्न कामनाएं होना बिलकुल स्वाभाविक है। व्यक्ति के विकास में वे कामनाएं सहायक होती हैं। उनका बलात् दमन किया गया तो वह विकास में कुंठा उत्पन्न करेगा और दंभ का प्रादुर्भाव होगा। व्यक्ति का विकास कुंठित हुआ तो समाज का भी विकास कुंठित होगा क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति मिलकर ही समाज बनता है। पुनः जनसाधारण के लिए कर्म करने की समस्त प्रेरणा का लोप होगा, अकर्मण्यता बढ़ेगी और फिर विनाश अवश्यंभावी होगा। अतः यथाधिकार उपदेश के सूत्र के अनुसार धर्म के आधार पर धर्म के लिए जो-जो धर्म्य काम होता है वह व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है। यह हमारी मान्यता है और इसीलिए जैसा कि पहले बताया जा चुका है भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु,
कामोऽस्मि भरतर्षभ।' गीता ७-११

अर्थात् 'धर्म के अविरुद्ध याने सुसंगत जो काम है वह मैं हूं।' पुनः स्वयं परमात्मा को भी पहले कामना हुई कि 'एकोऽहं बहु स्याम्' अर्थात् 'मैं एक हूं, अनेक रूपों में व्यक्त होऊं' अतः जनसाधारण के लिए कामना होना उसके विकास में सहायक ही है। यह बात अवश्य है कि विकास की अंतिम सीढ़ी पर खड़े व्यक्ति के लिए जब वह आत्मनिवेदन स्वरूप भक्ति की श्रेणी में पहुंचता है तब कामनाओं का अभाव ही होता है। अतः न वहां दंभ का अस्तित्व होता है और न कर्मप्रेरणा का लोभ होता है। उस स्थिति में यदि काम का उदय हुआ तो वह बाधक होता है। अतएव श्री अरविंद कहते हैं कि 'Deside is the helper, deside is the bar' अर्थात् 'कामना साधक है, कामना बाधक है।'

मोक्ष चौथा लक्ष्य है। यह अंतिम लक्ष्य है। धर्म से सुसंगत अर्थ एवं काम की प्राप्ति के लिए प्रयास करते समय भी इस अंतिम लक्ष्य की ओर व्यक्ति का ध्यान रहना चाहिए यह अपेक्षा है। मोक्ष के बारे में अपने समाज में एक विपरीत धारणा है कि सारे ऐहिक जीवन से विमुख होकर केवल भगवच्चिंतन में ही लीन होना चाहिए। जैसा कि पहले बताया जा चुका है उसे यदि उसी में मानसिक शांति मिलती है तो वह वैसा करे। वह भी हमारी मान्यता है। तथापि सारे सांसारिक कार्य करते हुए भी यदि कोई कामना न रही, अहंकार न रहा, भय एवं क्रोध की भावना न रही, तो वह व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी बनने की पात्रता

प्राप्त कर सकता है। सत्व, रज एवं तम इन स्वभावजनित गुणों से ऊपर उठकर जो कुछ कर्म किये जाते हैं वे गुणों के द्वारा किये जाते हैं। मैं केवल उनका साक्षी हूं, यह स्थायी भाव जिसमें उत्पन्न होता है वह मुक्त ही है। उस स्थिति का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च
मोहमेव च पांडव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि
न निवृत्तानि कांक्षति ।।' गीता १४-२२

अर्थात् 'हे अर्जुन (जो पुरुष) सत्वगुण के कार्यरूप प्रकाश को और रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति को तथा तमोगुण के कार्यरूप मोह को भी न प्रवृत्त होने पर बुरा समझता है और न निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा करता है।'

'उदासीनवदासीनो
गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तंत इत्येव
योऽवतिष्ठति नेंगते ।।' गीता १४-२३

अर्थात् 'जो साक्षी के सदृश स्थित हुआ गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता है (और) गुण ही गुणों में बर्तते हैं ऐसा (समझता हुआ) जो (सच्चिदानद परमातमा में एकीभाव से) स्थित रहता है (एवं उस स्थिति से) चलायमान नहीं होता है।'

'समदुःखसुखः स्वस्थः
समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीर-
स्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः ।।' गीता १४-२४

अर्थात् 'निरंतर आत्मभाव में स्थित हुआ दुःख-सुख को समान समझने वाला है (तथा) मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण में समान भाववाला (और) धैर्यवान है (तथा) जो प्रिय और अप्रिय को बराबर समझता है (और) अपनी निंदास्तुतियों में भी समान भाववाला है।'

'मानापमानयोस्तुल्य-
स्तुल्यो मित्रारिपयोः।
सर्वारंभपरित्यागी
गुणातीतः स उच्चते ।।' गीता १४-२५

अर्थात् 'मान और अपमान में सम है (एवं) मित्र और वैरी के पक्ष में भी सम है वह संपूर्ण आरंभों में कर्त्तापन के अभिमान से रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

'मां च योऽव्यंभिचारेण
भक्तियोगेन सेवेत।
स गुणान् सप्रतीत्यैतान्
ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।' गीता १४-२६

अर्थात् 'और जो पुरुष अव्यभिचारी भक्ति योग के द्वारा मेरे को निरंतर भजता है वह इन तीन गुणों को अच्छी प्रकार उल्लंघन कर सच्चिदानंद घन ब्रह्म में एकीभाव से होने के लिए योग्य होता है।'

चतुर्विध पुरुषार्थ को—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर चतुर्विध आश्रमों द्वारा—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम द्वारा—उनकी प्राप्ति के लिए व्यवस्था निर्माण करने वाली, प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव के अनुसार उसका धर्म एवं वर्ण निर्धारित कर—जन्म के अनुसार नहीं—कर्म देने वाली तथा विविधता में एकात्मता का अनुभव करा देने वाली हमारी संस्कृति विकसित हुई। उसकी अभिव्यक्ति अपने जीवन, साहित्य, कला एवं विविध सर्जनात्मक कृतियों में हुई। सबकी एक भाषा बनी और इन सबको अपनाने वाले अथवा विकसित करने वाले हिन्दू समाज की आधारभूत ईश्वर प्रदत्त इस भूमि के कोने-कोने में जहां हमारे महर्षियों ने शाश्वत् सुख की खोज में तपस्या कर सत्य को साक्षात् किया और जहां हमारे नरवीरों ने अपने समाज की तथा देश की रक्षा के लिए त्याग किया, प्राणार्पण किये और विजयश्री प्राप्त की, हमारे तीर्थस्थल बने। यहां बहने वाली नदियों के प्रति भी मातृभाव हमारे अंतःकरण में जागृत हुआ और पूजा-अर्चा के पानी में भी भारतवर्ष की समस्त नदियों को पानी देने का आवाहन किया गया। हम पूजा में कहते हैं कि—

'गंगे च यमुने चैव
गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिंधु कावेरि
जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु।।'

इस प्रकार यह भूमि हमारी पुण्य भूमि बनी। हमारे पूर्वजों द्वारा अतीत में किये त्याग के कारण प्राप्त वैभव ने हमारे लिए सुख-दुःख की समान अनुभूति दी। हमारा समान शत्रुमित्र-भाव बना और इस एकात्मता के आधार पर हमारा कम-से-कम चार-पांच हजार वर्ष पूर्व राष्ट्र भाव जागृत हुआ। राष्ट्र के निर्माण का बहुत अर्थपूर्ण विवरण अथर्ववेद में दिया है कि—

'भद्रमिच्छंत ऋषयः स्वर्विद-
स्तपो दीक्षामुपासेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं
तदस्मै देवा उपासन्नमंतु।।'

अर्थात् 'प्रारंभ में (सब लोगों के) कल्याण की कामना करने वाले स्वर्ग के जानकार ऋषियों ने तपस्या की। उस तप से राष्ट्र, सामर्थ्य और ओज प्रकट हुआ। अतः सुज्ञ लोग इस राष्ट्र की उपासना करें।'

परिणामतः जब अन्य देशों के लोग वन्य जीवन व्यतीत करते थे तब एक सुसंगठित राष्ट्र के रूप में वैभव की अत्यन्त उच्च स्थिति को हम प्राप्त कर चुके थे और—

'एतद् देशप्रसूतस्य
सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरत्
पृथिव्यां सर्वमानवाः।।' मनुस्मृति

अर्थात् 'इस देश में जन्मे द्विजों से अपने-अपने जीवन के पाठ पृथ्वी के सर्वमानव प्राप्त करें।' यह स्थिति उत्पन्न हुई थी।' अतः महाभारतकार ने वर्णन किया कि—

'दुर्लभं भारते जन्म
मानुषं तत्र दुर्लभम्।'

अर्थात् 'भारतवर्ष में जन्म प्राप्त करना दुर्लभ है (और) मनुष्य जन्म पाना और भी दुर्लभ है।'

एकरूपता नहीं एकात्मता—परस्परपूरकता का नियम 'यत्पिंडे तद् ब्रह्मांडे' के न्याय से सर्वत्र लागू होता है और सर्वत्र ईश्वर का अधिष्ठान है यह अनुभव कर हमने अन्य लोगों का द्वेष नहीं किया; अपितु वे अपनी रुचि एवं पात्रता के अनुसार अपना जीवनयापन करें यह हमने अपनी भावना बनायी। यदि उन्हें उनके मार्ग से चलते हुए सुख की प्राप्ति होती है तो उनके लिए उन्हीं का दृष्टिकोण ठीक है यह हमारा सोचने का व्यवहार करने का दृष्टिकोण रहा है और हमने अपना दृष्टिकोण दूसरों पर कभी नहीं लादा है। जिस भूमि में सारे संसार को माया अतएव असत्य है, मिथ्या है, ऐसा समझने वाले पूज्यपाद श्री मदाद्य शंकराचार्य का भी यह सोचने का दृष्टिकोण रहा कि, फिर भी माया में फंसे व्यक्ति के लिए यह संसार सत्य भासमान् होता है और इसलिए वह अपनी दृष्टि से इसे सत्य समझ कर व्यवहार करता है, तो करे, उस भूमि के लोगों ने यदि सोचा कि दूसरे लोगों को अपना दृष्टिकोण अपनाकर चलने में हमें कोई आपत्ति नहीं, उसी में उनका कल्याण होता है, तो वे चले, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। याने एकात्मता (Unity) के लिए एकरूपता (Uniformity) आवश्यक है ऐसा हमने कभी नहीं सोचा और इसलिए बलात् मतपरिवर्तन हमने कभी नहीं किये। एक अन्य संदर्भ में "Society" नामक अपने ग्रंथ में R. M. Maciver और Charles H. Page लिखते हैं कि—

"This process affords a large illustration of the principle that communal solidarity does not demand uniformity. Assimilation is not a one way process and differences are by no means eliminated; in fact difference itself may become a symbol of national or metropolitican unity. Least of all is unity achieved by coercive suppression of differences, as myriods of historical instances, from the fate of Israelites in Egypt to the subjection of German speaking groups in the former Austro-Italian Tyrol sufficiently reveal."
अर्थात् 'सांप्रदायिक एकता के लिए एकरूपता की अपेक्षा नहीं होती इस तत्त्व की यह प्रक्रिया एक उदाहरण प्रस्तुत करती है। आत्मीकरण यह एकांगी प्रक्रिया नहीं; और किसी भी स्थिति में भिन्नता दूर नहीं की जा सकती। वस्तुतः भिन्नता ही राष्ट्रीय अथवा महानगरीय एकता का प्रतीक बन सकती है। भिन्नता दूर करने के लिए अपनाये गये जोर-जबरदस्ती के उपायों से एकात्मता कभी भी निर्माण नहीं की जा सकती जैसा कि ईजिप्त में इस्राइल्स की, अथवा पुरातन आस्ट्रो-इटालियन टायरोल के जर्मन वंश के लोगों को पराधीन करने की अनेक ऐतिहासिक घटनाओं से स्पष्ट होता है।'

अहंभाव नहीं आत्मिक विकास—इसलिए हमने अपनी भूमि में बलात् मत-परिवर्तन नहीं किये और न सामर्थ्य संपन्न होते हुए भी दूसरों पर आक्रमण किया। अर्थात् हमने अपने राष्ट्र के अहंकार को पुष्ट नहीं किया; अपितु उसका आत्मिक विकास किया। इन गुणों के साथ हमारे राष्ट्र का विकास हुआ और वेदों ने उद्गान किया की 'पृथिवी समुद्र पर्यन्ताया एक राडिति'।

पाश्चात्य राष्ट्रभावना का आधार अहंभाव—परंतु पाश्चात्य देशों में जो राष्ट्रभावना का जागरण हुआ वह इस आधार पर नहीं हुआ। उसका भी कारण है। उनकी यह मान्यता है कि मनुष्य मूलतः स्वार्थी है यानी प्रत्येक मनुष्य स्वार्थी है। प्रत्येक का अपना स्वार्थ अलग-अलग होने के कारण स्वाभाविक रूप से एक-दूसरे से टकराता है। फिर स्वार्थ सिद्ध करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है और इस संघर्ष में जो सबल होता है वह दुर्बल पर हावी हो जाता है, सफल होता है। अतः मनुष्य को यदि विकास करना है तो उसे सामर्थ्य संपन्न होना चाहिए यह उन्होंने अनुभव किया। परंतु उन्होंने यह भी अनुभव किया कि आखिर शारीरिक शक्ति की भी अपनी मर्यादा होती है। उसके माध्यम से जो स्वार्थ सिद्धि होगी वह मर्यादित होगी। इसलिए अधिक मात्रा में स्वार्थ सिद्ध करने के लिए इससे अधिक मात्रा में शक्ति की आवश्यकता है यह अनुभव कर उन्होंने सोचा कि हम यदि दो, चार, दस लोग अधिक मिला लें तो अधिक मात्रा में स्वार्थ सिद्ध होगा।

और इससे भी अधिक मात्रा में स्वार्थ सिद्ध करना हो तो बड़े गुट की आवश्यकता है ताकि दूसरों से सफल संघर्ष कर सकें। यह दायरा बढ़ते-बढ़ते देश की भावना तक बढ़ा। फिर उसमें राष्ट्र की भावना जागृत हुई। संघर्ष से विकास होता है इस प्रकार की कल्पना करते हुए दूसरों पर हावी होकर उन्होंने अपने राष्ट्रों का विकास किया। याने उनका अहंभाव बढ़ा; आत्मिक विकास नहीं हुआ।

पाश्चात्य राष्ट्रवादी का विकास—गत तीन-चार शताब्दियों में संघर्ष से विकास इस आधार पर पाश्चात्य देशों में राष्ट्रवाद का विकास हुआ। जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं सारे यूरोप में पोप का शासन चलता था और राजाओं का भी नगरों में प्रभाव था। परंतु पोप के ही मार्गदर्शन में सबको चलना पड़ता था। जो नहीं चलते थे उन पर अत्याचार किए जाते थे। ऐसी स्थिति में उन देशों में औद्योगीकरण प्रारंभ हुआ। परिणामतः उत्पादन बढ़ा और उसके वितरण की चिंता बढ़ी। वितरण का स्वार्थ सिद्ध करने के लिए तथा पोप के अत्याचारों के विरोध में उन देशों में राष्ट्रभावना प्रकट हुई। सब देश पोप के विरोध में खड़े हुए और स्वतंत्र हुए। राजाओं का अपने-अपने देश में प्रभाव बढ़ा। फिर राजाओं ने मनमानी एवं अत्याचार प्रारंभ किए। तब उन्हें नियंत्रण में रखने के लिए सत्ता प्रथम सरदारों के हाथ में आयी। फिर राजा और सरदार मिलकर जब अत्याचार करने लगे तब जनतंत्र आया। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप जो धन संग्रह हुआ उसके कारण धन देकर वोट खरीदे जाने लगे और सत्ता धनी लोगों के पास आयी। सत्ता प्राप्त कर धनी लोंगों ने निर्धन लोगों को लूटना प्रारंभ किया और समाज दो हिस्सों में बंट गया; धनी और निर्धन। अतः इस अन्याय को दूर करने के लिए श्रमिकों ने संगठित होकर अपनी शक्ति बढ़ायी। अब हम यह देखते हैं कि श्रमिकों के अधिनायकवाद का जन्म हुआ है जिसका मोहक नाम है साम्यवाद (communism) और इसके आगे क्या होगा यह कहना बहुत कठिन है। सारा भविष्य अंधकारमय है। इन सब प्रतिक्रियात्मक घटनाओं का कारण क्या है? संघर्ष से विकास होता है यह उन लोगों की भ्रामक कल्पना ही इसका कारण है।

मात्स्य न्याय—ऊपरी तौर पर विचार करने पर संघर्ष से विकास होता है यह ठीक लगता है। यत्र-तत्र संघर्ष कर लोग सफल होते हुए दिखते हैं। इसे अंग्रेजी में 'Survival of the fittest' कहते हैं। जो सबसे अधिक 'फिट' होगा वह बाजी मार ले जाएगा और दुर्बल मात खाएगा। परन्तु संघर्ष से विकास होता है, ऐसा हम नहीं मानते। यद्यपि 'Survival of the fittest' यह न्याय कुछ सीमा तक हमने स्वीकार किया है। अपने यहां इसे 'मात्स्य न्याय' कहा गया है। इसका स्पष्टीकरण 'जीवो जीवस्य जीवनम्' इन शब्दों में भी किया जाता है। याने जिस प्रकार छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है, उसी प्रकार बड़ी मछली को उससे भी बड़ी मछली खा जाती है। यह व्यवहार जलचरों में ही है,

ऐसी बात नहीं। आकाश में उड़ने वाले पक्षी एवं भूमिचर पशुओं में और न चलने वाले वनस्पति जैसे प्राणियों में भी है।

मानव अपवाद—परंतु हमारी यह मान्यता है कि यह 'मात्स्य न्याय' 'मानुष न्याय' नहीं हो सकता। मनुष्य उसके लिए अपवाद है। कुछ चोर-डाकू हो सकते हैं जो दुर्बलों पर हावी होकर उनके सहारे अपनी जीवन यात्रा चलाते हों। परन्तु ऐसे लोगों की समाज में कोई प्रतिष्ठा नहीं होती। पुन: चोर-डाकुओं का भी अपना एक प्रेम का—आत्मीयता का—दायरा होता है जिसके अन्तर्गत आने वाले दुर्बलों की वे मदद करते हैं। वाल्मीकि का उदाहरण हमें ज्ञात होगा। एक बार महर्षि नारद संयोगवश उनसे मिले और नारदजी ने उनसे पूछा—'आखिर यह पापाचरण क्यों ?' वाल्मीकि ने उत्तर दिया 'अपने बच्चों एवं पत्नी के लिए' अर्थात् डाकुओं का भी अपना—अपने शरीर से भिन्न—एक कर्त्तव्य का क्षेत्र होता है। पुन: हम यह भी देखते हैं कि जनसाधारण भी जो दुर्बल हैं, पीड़ित हैं, रोगी हैं, उनकी मदद करने में जीवन की कृतार्थता अनुभव करते हैं। ऐसा नहीं सोचते कि जो दुर्बल है, अंधा है, उसके पैसे मैं छीन लूं। इतना ही नहीं अपितु अपना यह नित्य का अनुभव रहता है कि कई बार आपत्ति में फंसे व्यक्ति को बचाने का मनुष्य प्रयत्न करता है। किसी के घर में आग लगी तो उसे बचाने के लिए चारों ओर से लोग वहां पहुंचते हैं। दूसरे के घर में लगी आग बढ़कर अपने घर में लगेगी इस केवल स्वार्थ की भावना से वे प्रेरित होते हैं ऐसी बात नहीं। भूततया एवं परमार्थ की भावना भी उन्हें प्रेरित करती है। इतना ही नहीं तो स्वजीवन खतरे में डालकर डूबते व्यक्ति को बचाने की चेष्टा करने वाला भी डूब जाता है। स्पष्ट है कि स्वयं के प्राण उत्सर्ग कर दूसरों को राहत पहुंचाने की मनुष्य चेष्टा करता है। दूसरों की मदद करने की यह प्रवृत्ति, प्रेरणा आत्मौपम्य बुद्धि में है। प्रेम की भावना में है। प्रेम परमात्मा का गुण है। परमात्मा की अभिव्यक्ति सबसे अधिक मनुष्य में होने के कारण ही, ऐसा लगता है कि मनुष्य को अपने यहां 'व्यक्ति' कहा गया होगा। अत: इस दृष्टि से भी 'मात्स्य न्याय' मानवेतर सृष्टि पर लागू होता है और मनुष्य उसके लिए अपवाद है यह हमारी मान्यता है। स्पष्ट है कि संघर्ष से विकास की यह कल्पना दोषपूर्ण है और जहां-जहां वह रहेगी वहां-वहां संघर्ष होकर रहेंगे।

हमारे संघर्ष आत्मरक्षार्थ—यह बात सत्य है कि हमारे यहां भी संघर्ष हुए। गत एक हजार वर्षों का अपने इतिहास का ब्यौरा देखो तो दिखाई देगा कि हमें भी संघर्ष करने पड़े। परन्तु गहराई में जाकर अध्ययन करो तो ज्ञात होगा कि गत एक हजार वर्षों में व्यक्तिनिष्ठ जीवन की विकृत कल्पना के परिणामस्वरूप उत्पन्न दुर्बलता के कारण हमारे यहां जो आक्रांता आए उनसे हमारे नरवीरों को संघर्ष करने पड़े। याने सारा संघर्ष आक्रमणकारियों के विरोध में किया गया।

राष्ट्र के अस्तित्व के लिए, स्वाभिमानपूर्ण जीवन के लिए किया गया। आत्मरक्षार्थ किया गया संघर्ष कोई पाप नहीं; अपितु न करते तो पाप लगता और नरक की प्राप्ति होती। ईशावास्योपनिषद् कहता है कि—

'असुर्या नाम ते लोका
अंधेन तमसावृताः।
ता ँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छंति
ये के चात्महनो जनाः ।।' ई०३

अर्थात् 'वे असुर संबंधी लोक आत्मा के अदर्शनरूप अज्ञान से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्मा का हनन करने वाले लोग हैं वे मरने के पश्चात्—उन्हें प्राप्त होते हैं।' अर्थात् नीच योनि को प्राप्त होते हैं। मनु भी कहते हैं कि—

'गुरुं वा बालवृद्धौ वा
ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायांतं
हन्यादेवाविचारयन् ।।'

अर्थात् 'मारने के लिए आने वाला(व्यक्ति) (कोई भी होवे) गुरु, बाल, वृद्ध अथवा बहुश्रुत ब्राह्मण, उसे बिना विचार किए मारना चाहिए।' स्पष्ट है कि मनुष्य को आत्मघात नहीं होने देना चाहिए यह हमारे धर्म की मान्यता है। अपने राष्ट्र का जीवन नष्ट नहीं होने देना चाहिए यह धर्म का निर्देश है। केवल धर्म का ही निर्देश है ऐसी बात नहीं अपितु अपना जो दंड विधान है उसके अनुसार भी आत्मरक्षार्थ किया गया संघर्ष वैध माना गया है। सार यह कि हमें विवश होकर संघर्ष करने पड़े; परन्तु जब संघर्ष कर सारे संसार में साम्राज्य प्रस्थापित करने की क्षमता थी उस समय भी हमने अन्य देशों का जन-जीवन अपने नियन्त्रण में नहीं लिया। यहां से लोग बाहर गए, जावा गए, सुमात्रा गए, चीन, जापन आदि पूर्व के देशों में गए। पश्चिम में मैक्सिको भी गए, यह अन्वेषण से ज्ञात हुआ है। परन्तु उन्हें पराधीन करने नहीं गए; अपितु धर्म के प्रचारक के नाते गए। मानव को पशु बनाने नहीं गए; अपितु मानव को मानवता का पाठ सिखाने गए। इसका एकमात्र कारण यह कि परायों के प्रति द्वेष अथवा संघर्ष से विकास होता है इस तथाकथित तत्त्व की कल्पना हमें सर्वथा अमान्य है।

अहंभाव अलगाव की भावना का जनक—हमने पहले यह समझने का प्रयास किया है कि कलह का कारण केवल व्यक्ति की दुष्ट बुद्धि, स्वार्थपरायणता अथवा व्यक्तिगत अहंभाव नहीं होते अपितु व्यक्ति द्वारा अपने आत्मिक विकास के लिए अपनायी गयी श्रद्धा एवं उपासना पद्धति भी होते हैं। यदि उसका उस सम्बन्ध में अहंभाव रहा तो वह व्यक्ति में विकृति उत्पन्न करता है। पाश्चात्य देशों में प्रचलित यहूदी, ईसाई और मुस्लिम पंथ की—और अब नए जन्मे पंथ याने साम्य-

वाद की—जो कि सब सेमेटिक वंश द्वारा प्रणीत किए गए हैं, यही अहंभाव की द्योतक धारणा है कि हमारा पंथ मत उत्कृष्ट है और बाकी सब निकृष्ट हैं। फलतः उन्होंने स्वमतांधता (fanaticism) वश दूसरे मतावलंबियों की ओर घृणा से देखा। दूसरों का बलात् मत-परिवर्तन किया। और तदर्थ रक्तपात भी किया। उसका एक अपरिहार्य परिणाम यह होता है कि मत-परिवर्तन होकर एकात्मता होना तो दूर रहा, आक्रामक एवं आक्रांत लोगों में अलगाव की भावना अधिक प्रखर होती है। परिणामतः कलह अधिक होकर एकरस जीवन निर्माण नहीं होता।

आत्मीकरण—क्षमताजनक हमारे आदर्श—परन्तु जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं, हमारे धर्म की प्राकृतिक गतिशीलता, लचीलापन एवं सर्वसंग्राहक भूमिका होने से हमने अपनी श्रद्धा एवं उपासना पद्धति के बारे में अहंभाव जागृत नहीं होने दिया, अपितु अपनी इस पुण्य भूमि में हमने यह पूर्वनिर्दिष्ट सामंजस्य का—सबकी मान्यता को मान्यता देना यह अपनी मान्यता होने का—दृष्टिकोण अपनाया। उसके परिणामस्वरूप यहां आए इन विदेशी विचारकों के अथवा पंथों के अनुयायियों की स्वमतांधता भी जब हम चैतन्ययुक्त रहे तब मंद हुई और दूसरों की मान्यता को मान्यता देना चाहिए यह अपनी मान्यता काफी मात्रा में उन पर संस्कारित हुई। यहां १७-१८ सौ वर्ष पूर्व जो ईसाई आए उनकी भी यही मान्यता बनी। अतः आजकल ईसाई मत के आए नए प्रचारक जो उपासना पंथांतरण करते हैं—जो प्रायः आत्मिक विकास की ओर ले जाने वाला न होकर केवल भौतिक स्तर तक ही सीमित होता है—उसकी ओर वे सद्‌भावना से नहीं देखते। उन्हीं दिनों यहां आकर बसे यहूदियों का स्वभाव इस्रायल के यहूदियों के स्वभाव से इसी मान्यता के स्वीकार के कारण मेल नहीं खाता। झरतुष्ट्र के अनुयायियों ने—पारसियों ने— इस मान्यता को शत-प्रतिशत स्वीकार किया है। अपने यहां के मुसलमान मजार की पूजा करने लगे हैं। यह भी आखिर मूर्तिपूजा है। अपने यहां इसे प्रेत पूजा कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये
यजंते तामसा जनाः ।।' गीता १७-४

अर्थात् 'अन्य (जो) तामसजन हैं (वे) प्रेत एवं भूतगणों को पूजते हैं।' और उनकी पूजा की इस विधि को—जो मूर्तिपूजा होने से मुस्लिम उपासना पद्धति के एकदम विरुद्ध है—यहां के अन्य मुसलमान मान्यता देने लगे हैं। स्पष्ट है कि दूसरों की मान्यता को मान्यता देने की इस राष्ट्र की मान्यता से यहां के मुसलमान प्रभावित हुए हैं। और अधिक समय मिलता तो हिंदू समाज की पूजाविधि को भी सब मुसलमान मान्यता देते। परन्तु हमारे चैतन्ययुक्त होने पर सात्मीकरण की यह प्रक्रिया जब चालू हुई तब उसी समय दुर्भाग्य से अंग्रेजों ने यहां आकर अपनी

दुष्ट एवं कूट नीति से अपना साम्राज्य यहां प्रस्थापित किया और उसे दृढ़मूल करने के लिए उन्होंने मुसलमानों की अलगाव की भावना को पुनः जागृत कर पुष्ट किया। उसकी अलगाव की भावना को ताव देने के लिए हाली नामक एक मुस्लिम कवि ने भले ही रचना की हो कि 'मुस्लिम वीरसमूह एक झटके में सात समुद्र पार कर हिन्दुस्तान में आया और गंगा में डूब गया'; परन्तु यह स्पष्ट है कि यह उक्ति सत्य पर आधारित है। यहां के मुसलमानों की स्वमतांधता (Fanaticism) नष्ट होने की प्रक्रिया शुरू होकर यहां के राष्ट्र जीवन में उनका समरस होना प्रारम्भ हो चुका था। श्री अरविंद के एक शिष्य श्री शिशिरकुमार मित्र ने "Evolution in India—its meaning" नामक अपनी पुस्तक में बीजापुर के अभिलेखों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "Several documents of Bijapur start with an invocation to the Hindu Goddess Sarswati."

अर्थात् 'हिन्दुओं की देवी सरस्वती के आवाहन से बीजापुर के अनेक अभिलेखों का प्रारंभ होता है।' और हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि हमारा गतिशील, लचीला एवं सर्वसंग्राहक सनातन हिंदू धर्म एक दिन उन्हें आत्मसात् कर लेगा।

बलात् मत-परिवर्तन करने से आत्मिक विकास होना तो दूर रहा, व्यक्ति का बुद्धि भेद होकर उसका अधःपतन होता है। भिन्न-भिन्न श्रद्धाओं तथा उपासना-मार्गों से परमपद प्राप्ति हो सकती है यह हमारा दृढ़ विश्वास होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि, प्रवृत्ति, अधिकार एवं धारणाओं के अनुसार आत्मिक उन्नति करने का अवसर देना चाहिए यह विचार प्रवाह अपनी इस पुण्य भूमि में इतना प्रबल है और उस पर लोगों की इतनी श्रद्धा है कि उसके कारण यह सारा परिणाम अनजाने ही एवं स्वाभाविक रूप से होता हुआ दिखता है। वह परिणाम और अधिक अनुकूल एवं प्रभावी होगा, यदि हम अपनी धर्म व्यवस्था के पूर्वनिर्दिष्ट सूत्रत्रय को समझ कर अनुभव कर चलेंगे अर्थात् सब में सत्य का अधिष्ठान है, सब विकसनशील हैं और सब परस्परपूरक हैं यह अनुभव कर, सबको परस्परानुकूल बनाने के लिए यथाधिकार उपदेश के तत्त्व के आधार पर हम सबको अपना विकास करने का अवसर प्रदान करेंगे।

राष्ट्र का आत्मिक विकास मानवता का पोषक—शरीर का स्वस्थ विकास हुआ ऐसा हम तब ही कह सकते हैं जब शरीर के सब अवयवों का स्वस्थ विकास होकर उनमें परस्परपूरकता का अनुभव कर वे परस्परानुकूल होते हैं। एक अवयव दूसरे अवयव का दमन कर उस पर शासन नहीं करता अपितु सब अवयव हृदय, मस्तिष्क आदि अन्य अवयव—एक-दूसरे के अनुकूल होते हैं। उसी प्रकार परिवार में स्वस्थता तब ही रहती है, जब सब इकाइयों को अपनी-अपनी रुचि, प्रवृत्ति एवं पात्रता के अनुसार विकास करने का अवसर मिलता है और एक-

दूसरे का दमन नहीं किया जाता। व्यक्ति का अहंकार बढ़ा तो दूसरे का दमन कर शासन करने की प्रवृत्ति बढ़ती है और फिर परिवार एवं राष्ट्र के विकास में वह बाधक बनती है। परन्तु व्यक्ति का आत्मिक विकास हुआ तो भेद में अभेद देखकर सब परस्परपूरक हैं यह अनुभव कर सबको परस्परानुकूल करने के लिए परिवार के अथवा राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि, प्रवृत्ति, पात्रता एवं धारणाओं के अनुसार विकास करने का वह अवसर देता है। अतः परिवार एवं राष्ट्र के विकास में वह सहायक होता है। उसी प्रकार राष्ट्र के सामूहिक मन का अहंकार बढ़ा तो दूसरे राष्ट्रों का दमन कर उन पर शासन करने की प्रवृत्ति बढ़ती है। परंतु राष्ट्र का आत्मिक विकास हुआ तो अपने राष्ट्रीय अहंभाव को थोड़ा मोड़कर सब राष्ट्र एक ही सत्तत्त्व पर अधिष्ठित हैं यह अनुभव कर सबकी परस्परपूरकता को स्मरण में रखकर सब राष्ट्रों को परस्परानुकूल करने के लिए प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रुचि, प्रवृत्ति, पात्रता तथा धारणाओं के एवं अपनी-अपनी विशेषताओं के आधार पर अपना विकास करने का वह राष्ट्र अवसर देता है। हमने अपने राष्ट्र का अतीत में आत्मिक विकास किया था और राष्ट्र को समृद्ध किया था। हमने न केवल स्वराष्ट्र के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपितु अन्य राष्ट्रों को भी उनकी रुचि, प्रवृत्ति, पात्रता एवं धारणाओं के अनुसार अपनी-अपनी विशेषताओं के आधार पर अपना विकास करने का—जैसी कि हमारे धर्म ने व्यवस्था दी है—अवसर दिया था। अतः हमारा राष्ट्रवाद मानवता के विकास में पोषक रहा।

राष्ट्र का अहंभाव मानवता को हानिकारक—परंतु संघर्ष से विकास होता है यह पाश्चात्य देशों की मान्यता है। पुनः ईसाई मत का प्रभाव आज वहां भले ही क्षीण हो गया हो, और अपने राष्ट्र के अन्तर्गत अन्य मतावलंबियों के प्रति—फिर वे मत आत्मिक विकास के लिए अपनायी गयी उपासनाप्रणाली के बारे में हों अथवा भौतिक उन्नति के लिए अपनायी गयी राजनीतिक दलगतनीति के बारे में हों—आदर की भावना वहां भले ही उत्पन्न हुई हों, परंतु हमारा राष्ट्र जीवन, हमारे राष्ट्रीय आदर्श एवं हमारी शासन व्यवस्था उत्कृष्ट और अन्य राष्ट्रों की निकृष्ट यह विचार करने की मनोभूमिका उन राष्ट्रों में ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। उसमें केवल इतना ही संशोधन हुआ है कि उत्कृष्टता-निकृष्टता के विचार का आधार पहले ईसाई मत था; आज उसका आधार राष्ट्रवाद बना हुआ है। यानी आवरण का चोला बदला मनःप्रवृति ज्यों-की-त्यों है। अर्थात् 'अयमात्मा ब्रह्म' वे मान्य करते हैं, परंतु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अनुभव करने की उनकी पात्रता अथवा सिद्धता नहीं है। परिणामतः वहां अहंभाव बढ़ा। व्यक्ति का बढ़ा और राष्ट्रों का भी बढ़ा फलतः कदाचित् स्वराष्ट्रांतर्गत अन्य व्यक्तियों अथवा गुटों का और सदैव दूसरे राष्ट्रों का दमन कर उन पर शासन करने की उनकी प्रवृत्ति

बनी। उसका परिणाम जहां एक ओर यह हुआ कि पहली स्थिति में उनके राष्ट्रों के अन्तर्गत क्रांतियां हुईं, वहां दूसरी ओर हम यह देखते हैं कि सदैव उनका राष्ट्रवाद मानवता के विकास में बाधक हुआ और आज हम यह अनुभव करते हैं कि राष्ट्रवाद एवं मानवता में संगति कैसे निर्माण करना यह तत्रत्य मनीषियों के लिए चिंतनीय विषय बना हुआ है।

मानवता का आधार : सबकी मान्यताओं को मान्यता देना—अतः हमारे धर्माचार्यों द्वारा साक्षात् किए गए सत्य के अनुसार—अर्थात् सर्वत्र भेद में अभेद है, सब विकसनशील हैं और सब परस्परपूरक हैं अतः सबको परस्परानुकूल करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अथवा राष्ट्र को अपनी रुचि, प्रवृत्ति, पात्रता एवं धारणाओं के अनुसार अपनी विशेषताओं के आधार पर—विकास करने का अवसर देना चाहिए। यदि प्रत्येक राष्ट्र को उसके स्तर के अनुसार अपनी विशेषताओं के साथ विकास करने का अवसर दिया गया तो प्रत्येक राष्ट्र का आत्मिक विकास होकर वह मानवता के लिए पोषक होगा। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार विकास करने का अवसर देते समय 'संघर्ष से विकास' की उनकी मान्यता बनी रही तो भी चिंता नहीं। उनकी लड़ने की प्रवृत्ति है, लड़ने दो। चिंता करने का कोई कारण नहीं। स्रष्टा द्वारा सृष्ट इस सृष्टि का विद्वेष कर, उसका संहार कर कोई स्रष्टा को प्रसन्न नहीं कर सकता, अपितु स्रष्टा द्वारा वह दंडित किया जाता है इस सत्य को वे आज नहीं तो कल साक्षात् करेंगे। भगवान् श्रीकृष्ण ने आसुरी संपत्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि—

'अहंकारं बलं दर्पं
कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु
प्रद्विषंतोऽभ्यसूयकाः ॥' गीता १६-१८
'तानहं द्विषतः क्रूरान्
संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभा-
नासुरीष्वेव योनिषु ॥' गीता १६-१९

अर्थात् 'अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोधादि परायण हुए (एवं) अपने एवं दूसरों के शरीर में स्थित मुझ ईश्वर से द्वेष करने वाले हैं, तथा दूसरों की निंदा करने वाले हैं उन द्वेष करने वाले पापाचारी (और) क्रूर-कर्मी नराधमों को संसार में मैं बार-बार आसुरी योनि में ही गिराता हूं।' अर्थात् नीच योनि में ही उत्पन्न करता हूं। अतः यह स्पष्ट है कि इस निम्नस्तर से अच्छी जो विविध राष्ट्रों ने विशेषताएं अपनायी हैं उनके आधार पर यदि वे अपना विकास करते हैं, तो उसमें हमारे लिए कोई आपत्ति नहीं होगी। उनकी उन विशेषताओं के आधार पर वे अपने

को अच्छी प्रकार से सुविकसित कर सकते हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि ब्रिटेन ने जनतंत्र का सिद्धांत विकसित कर अपने राष्ट्र की प्रगति की है और एक आदर्श जनतंत्र के रूप में वह खड़ा है। हम कहते हैं बहुत अच्छा। अथवा फ्रान्स ने तीन T's—Liberty, equality and fraternity—अर्थात् स्वतंत्रता, समता और बंधुता के आधार पर—अपने राष्ट्र का निर्माण किया है। हम सोचते हैं कि यह उनकी अपनी प्रेरणा है। ग्रीस ने सौंदर्य के आधार पर अथवा रोम ने विधि के आधार पर अपने राष्ट्र का विकास किया है। हम मानते हैं कि यह उनकी अपनी विशेषता है। अमर्याद व्यक्ति स्वातंत्र्य के आधार पर अमेरिका ने अथवा समूहवाद के आधार पर व्यक्ति स्वातंत्र्य का अपहरण कर रूस ने अपने राष्ट्र का विकास किया है। हमारा दृष्टिकोण है कि ये सब अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। हमें उसमें कोई आपत्ति नहीं। हमने भी जिसके कारण व्यक्ति, परिवार, राष्ट्र एवं मानवता का ठीक प्रकार से धारण होता है उस अपने सनातन हिंदू धर्म के आधार पर अपने राष्ट्र का विकास किया है।

हमें विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव से उत्पन्न गुणों के आधार पर अपना व्यक्तित्व विकसित करने का अवसर देने की व्यवस्था कर जिस प्रकार राष्ट्र की एकात्मता का सबको अनुभव कराते हुए अपने राष्ट्र जीवन को धर्म ने पुष्ट किया उसी प्रकार से प्रत्येक राष्ट्र को अपने स्वभाव से उत्पन्न गुण विशेषताओं के आधार पर अपने राष्ट्रियत्व को पुष्ट एवं विकसित करने का यदि अवसर मिला तो सब राष्ट्रों की परस्परपूरकता को अतएव परस्पराश्रयता को अनुभव कर सब राष्ट्रों को परस्परानुकूल करते हुए सारे राष्ट्र, समस्त संसार के कल्याण के लिए प्रस्तुत हो सकेंगे। वस्तुतः प्रकृति माता के इस संसाररूपी उद्यान का सौंदर्य उसमें विकसित विविध विशेषतारूपी रंगों के विविध राष्ट्ररूपी पुष्पों से बढ़ेगा ही। पूज्यपाद श्री स्वामी विवेकानंदजी ने कहा है कि—

"Whithin every man there is an idea; the external man is only the outward manifestation the mere Language of this idea within. Like wise every nation has a corresponding national idea. This idea is working for the world and is necessary for its preservation."

अर्थात् 'प्रत्येक व्यक्ति के अंदर एक भाव विद्यमान होता है, बाह्य मनुष्य उसकी केवल एक अभिव्यक्ति है, उस आंतरिक भाव की भाषा मात्र है। इसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र का भी एक राष्ट्रीय भाव रहता है। यह भाव विश्व के लिए कार्य करता है और उसके संरक्षण के लिए वह आवश्यक है।' आगे उन्होंने कहा है कि—

"We have to understand that there are not any qualities

which are privilaged monopoly of one nation only. Of course as with individuals so with nations, there may be a prevalence of certain good qualities more or less in one nation than in another."

अर्थात् 'पहले हम यह भी समझ लें कि ऐसे कोई अच्छे गुण नहीं हैं जिन पर किसी एक राष्ट्र का विशेष अधिकार हो। व्यक्तियों के समान, निःसंदेह राष्ट्रों में भी किसी एक राष्ट्र में अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा कुछ गुणों का प्राधान्य हो सकता है।'

सब राष्ट्र परस्परपूरक—सब राष्ट्रों की परस्परपूरकता को भौतिक क्षेत्र में सब राष्ट्र स्वीकार कर चुके हैं। हम यह देखते हैं कि एक देश का जो उत्पादन होगा उसका वितरण दूसरे देशों में हो रहा है। और उसका निर्यात करने वाले देश को अपने देश में अनुपलब्ध वस्तुएं दूसरे देश से आयात करनी पड़ती हैं। परस्परपूरकता का यह सिद्धांत केवल भौतिक वस्तुओं तक ही सीमित नहीं; अपितु वैचारिक विनियम भी होने लगा है। जहां एक ओर अमर्याद व्यक्ति स्वातंत्र्य के परिणास्वरूप उत्पन्न उच्छृंखलता एवं विषमता के कारण समाज का स्वास्थ्य बिगड़ता है यह अनुभव कर उत्पादन के क्षेत्र में श्रमिकों के लाभ के लिए अधिक प्रावधान हों ऐसे विधान अमेरिका बना रहा है, वहां दूसरी ओर व्यक्तिस्वातंत्र्य का अपहरण कर केवल भौतिक सुख-सुविधा देने मात्र से कर्म करने की प्रेरणा लुप्त होती है यह अनुभव कर—मर्यादित रूप में क्यों न हो, परंतु—रूस भी व्यक्तियों को स्वतंत्रता देने की ओर झुक रहा है। स्पष्ट है कि सब परस्परपूरक हैं। अपने धर्म ने यद्यपि कहा है कि दरिद्रनारायण की सेवा करनी चाहिए, तथापि धर्म निर्देश की ओर हमारा दुर्लक्ष हुआ यह वास्तविकता है। इसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते। और हमें उसका स्मरण कब हुआ? जब ईसाई प्रचारक यहां आकर बनवासी एवं अन्य पिछड़ी जातियों के बंधुओं की सेवा कर उन्हें ईसाई बनाकर हमसे अलग करने लगे। उसी प्रकार से जब श्रमिकों के हित के लिए लड़कर बाह्य निष्ठा प्राप्त किए समूहवादियों (communism) ने श्रमिकों में और बचे समाज में अलगाव की भावना निर्माण की तब अपने समाज की आंखें खुलीं यह भी हम अमान्य नहीं कर सकते। भले ही 'उन्हें यह राहत देना प्रथम प्रतिक्रिया के रूप में हुआ होगा; परंतु तब ही हमारा उस ओर ध्यान आकृष्ट हुआ और उसके पश्चात् धर्मनिर्दिष्ट भावात्मक (positive) प्रेम के आधार पर अर्थात् वे हमारे भाई हैं, आत्मीय हैं, हमारे समाज शरीर के अंग हैं यह अनुभव कर उन्हें राहत देना हमने प्रारंभ किया। दूसरों ने हमें विस्मृत धर्म व्यवस्था का स्मरण दिलाया यह स्पष्ट है।

कार्य का आधार हमारा धर्म—यह राहत देना तभी संभव होता है जब सब में सत्तत्त्व है यह साक्षात्कर सबकी परस्परपूरकता को अनुभव कर सब परस्परानुकूल होंगे। यह परस्परानुकूलता प्रत्येक व्यक्ति को अथवा राष्ट्र को अपनी-

अपनी प्रकृति के अनुसार, अपनी विशेषताओं के आधार पर विकास करने का अवसर देकर निर्माण की जा सकती है यह प्रकृति के मौलिक नियमों का अध्ययन कर अपने सनातन हिन्दू धर्म द्वारा अन्वेषित अथवा आविष्कृत सिद्धांत है। वास्तविकता के आधार पर जीवन की ओर देखकर उसका विकास करने के लिए स्वीकृत दृष्टिकोण है। यही अपने धर्म की दी हुई व्यवस्था है और यह अपनी विशेषता समस्त सृष्टि के प्रति अपने अंतःकरण में व्याप्त आत्मीयता की, प्रेम की भावना का अभिव्यक्त रूप है। "India Mother of us all" नामक अपनी पुस्तक में श्री चमनलाल ने Annie Baasant का विचार उद्धृत किया है कि—

"When the nations of the earth were sent forth one after the other, special word was given by God to each, the word which was to express to the world the particular message of each—To Egypt in olden days, the word was given Religion; to Iran the word was purity, to Childea the word was Science, to Greece the word was beauty to Rome the word was Law and to India the eldest of his Children. He give the word that summed up the whole in one, the word was Dharma. It is too difficult to translate the word in English. It briefly means a code of Duty, Duty to God, Duty towards his people, Duty to society, Duty to animals and birds which can also mean love for all the creation. India has preached this message of love for nearly fifty centuries."

अर्थात् 'जब विश्व के राष्ट्रों को एक-एक कर पृथ्वी पर भेजा गया तब उन्हें ईश्वर द्वारा एक विशेष शब्द दिया गया जो विश्व को उस राष्ट्र के विशेष संदेश का बोध कराता है। प्राचीन ईजिप्त के लिए वह शब्द था उपासना, ईरान के लिए शब्द था पवित्रता, चाल्डिआ के लिए शब्द था विज्ञान, ग्रीस के लिए सौंदर्य, रोम के लिए विधि और भारत जो उसका अग्रज पुत्र है जो शब्द दिया गया उसमें इन सबका समावेश हो जाता है और वह शब्द है धर्म। इस शब्द का अंग्रेजी में अनुवाद करना कठिन है। संक्षेप में यह एक कर्त्तव्यसंहिता है—ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य, उसके पुत्रों के प्रति कर्त्तव्य, समाज के प्रति कर्त्तव्य, प्राणियों एवं पक्षियों के प्रति कर्त्तव्य, जिसका दूसरा अर्थ होता है समग्र सृष्टि के लिए प्रेम। इस प्रेंम के संदेश को भारत लगभग पचास शताब्दियों से सर्वत्र देता रहा है।'

अपनी प्रकृति के अनुसार अपना विकास करने का प्रत्येक को अवसर देकर सबको परस्परानुकूल बनाने की अपने धर्म द्वारा निर्दिष्ट व्यवस्था के सहारे हमें अपने राष्ट्र का विकास करना चाहिए। विचारों का यह अधिष्ठान रहा तो राष्ट्र

का उत्थान होगा और इस ओर दुर्लक्ष रहा तो राष्ट्र का अधःपतन होगा। अलीपुर बम केस में निर्दोष घोषित होने पर कारागार से मुक्त होने के पश्चात् श्री अरविंद का उत्तरपाड़ा में स्वागत किया गया तब उत्तर देते हुए उन्होंने कारागार में हुए दो साक्षात्कार बताए। एक साक्षात्कार यह कि 'वासुदेवः सर्वम्' और दूसरे का उल्लेख करते हुए वे बोले—

"When, therefore, it is said that India shall rise, it is the Sanatan Dharma that shall rise. When it is said that India shall be great, it is the Sanatan Dharma that shall be great. When it is said that India shall expand and extend herself, it is the Sanatan Dharma that shall expand and extend itself over the world. It is for the Dharma and by the Dharma that India exists. To magnify religion is to magnify the country."

अर्थात् 'अतः जब यह कहा जाएगा कि हिंदुस्थान का उत्थान होगा तब (उसका अर्थ यही होगा कि) सनातन धर्म का उत्थान होगा। जब यह कहा जाएगा कि हिंदुस्थान महान् बनेगा तब (उसका यही अर्थ होगा कि) सनातन धर्म महान् बनेगा जब यह कहा जाएगा कि हिंदुस्थान विशाल एवं व्यापक बनेगा (उसका आशय यही होगा कि) सनातन धर्म व्यापक रूप से विश्व में फैलेगा। भारत धर्म के लिए और धर्म के आधार पर जी रहा है। धर्म को महान् यानी देश को महान् बनाना है।' और आगे वे कहते हैं कि—

"It is the Hindu religion only because the Hindu nation has kept it."

अर्थात् 'वह केवल हिंदू धर्म है क्योंकि हिंदू राष्ट्र ने उसे सुरक्षित रखा है।' और फिर कहते हैं कि—

"That which we call the Hindu religion is really the eternal religion because it is the Universal religion which embrasses all others."

अर्थात् 'जिसे हम हिंदू धर्म कहते हैं वह वास्तव में विश्व का सनातन धर्म है क्योंकि वह सबका समावेश करता है।'

: १४ :

राष्ट्रोत्थानकारक अर्वाचीन कार्य

अपने धर्म का स्वरूप संक्षेप में बताने का अब तक प्रयास किया गया है। अब अर्वाचीन काल के इस आदर्श व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रोत्थान के लिए जो प्रयास किए गए और चल रहे हैं उनका अतिसंक्षेप में विचार करने से औचित्य हानि नहीं होगी।

यद्यपि हमारे धर्माचार्यों ने इस प्रकार से अपने धर्म का लचीला अतएव सर्वसंग्राहक एवं उदारतावादी स्वरूप बनाया तथापि पहले निर्दिष्ट किए अनुसार किसी काल में दी गयी व्यवस्था के मूल उद्देश्य का यथावकाश विस्मरण होकर उसके ढांचे को चिपककर रहने की जो जनसाधारण की प्रवृत्ति होती है तदनुसार जनसाधारण को समाज की धारणा करने के मूल उद्देश्य का मध्ययुग में विस्मरण हो गया एवं राष्ट्र में एक निर्जीवता की स्थिति उत्पन्न हुई और अपने ढंग की एक यथास्थितिप्रियता समाज में पनपी। उसे पुनः चैतन्ययुक्त करने का कार्य मध्ययुगीन संतों ने किया।

अर्वाचीन काल में पाश्चात्य देशों से—विशेष रूप से अंग्रेजों से—संबंध आने के पश्चात् तो अनेक प्रश्न, अनेक चुनौतियां सामने आयीं, जिन्हें सुलझाने की क्षमता, समाज का धारण करने के मूल उद्देश्य की दृष्टि से परंपरावादी एवं रूढ़िगस्त अतएव निर्जीव एवं निष्प्रभ बनी उस व्यवस्था में नहीं थी। उस दृष्टि से समाज में क्षमता निर्माण करने के लिए अपने आदर्शों के आधार पर नया दृष्टिकोण देने का प्रयास होने की नितांत आवश्यकता थी। राजा राममोहन राय ने तदर्थ सर्वप्रथम प्रयास प्रारंभ किया और सतीप्रथा, मूर्तिपूजा, वर्ण-व्यवस्था में आयी विकृति आदि के विरोध में प्रचार किया। ब्रह्म समाज की स्थापना की। परन्तु फिर भी वे पाश्चात्य विचारों से प्रभावित थे। परिणामतः उनका प्रतिपादन भी उन विचारों से अप्रभावित नहीं था और इसलिए पाश्चात्यों के प्रच्छन्न परंतु आक्रामक प्रचार के सामने उनका प्रचार केवल संरक्षणात्मक रहा।

उस दृष्टि से मुस्लिम एवं ईसाई प्रचार के प्रत्युत्तर के रूप में आक्रामक प्रचार किया महर्षि दयानंद ने। उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की और न केवल अपनी

निर्जीव व्यवस्था को धिक्कारा अपितु ईसाई एवं मुस्लिम तत्त्वज्ञान पर भी बड़ा कड़ा प्रहार कर उसका खंडन किया। शुद्धीकरण का कार्य भी प्रारंभ किया। उनके प्रयास का यह फल है कि खानपाननिषेध, अस्पृश्यता, सती प्रथा, पुर्नविवाह का विरोध आदि विकृतियों के बारे में समाज में विचार करने की प्रवृत्ति बढ़ी। उत्तर भारत में उनके विचारों से काफी लोग प्रभावित हुए। थिऑसाफिकल सोसायटी ने भी अपने हिंदू दृष्टिकोण का सर्वत्र प्रचार किया।

परंतु इन सब प्रचारों के परिणामस्वरूप रूढ़िगस्त एवं सुधारक के रूप में समाज का मानो वर्गीकरण हो गया। पारस्परिक कटुता बढ़ी। परिणामत: समाज द्विधा विभक्त न हो इसलिए उसे एक सूत्र में गूंथने के हेतु अपने धर्म के सामंजस्य के सिद्धांत पर आधारित दृष्टिकोण भगवान् रामकृष्ण परमहंस ने अपनाया और अपनी अनुभूति के आधार पर प्रतिपादन किया कि सब भिन्न-भिन्न उपासना पद्धतियों से परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है फिर चाहे वे विदेशों से आयी पद्धतियां भी क्यों न हों। उनके उत्तराधिकारी के रूप में स्वामी विवेकानन्दजी ने जो धर्म प्रचार का कार्य किया उससे अपने समाज का आत्मविश्वास बढ़ा और पाश्चात्य देश भी प्रभावित हुए। उनके द्वारा संस्थापित रामकृष्णाश्रम के द्वारा आज अनेक स्थानों पर धर्म जागरण का कार्य चलाया जा रहा है यह हम सब जानते हैं।

योगी श्री अरविंद का दर्शन तो सामंजस्य का असामान्य उदाहरण है। हिंदू आदर्शों का त्याग किए बिना भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टिकोणों का उन्होंने अपने दर्शन में समावेश किया है; अर्थात् अभ्युदयसहित निःश्रेयस के ध्येय पर आधारित दर्शन उन्होंने प्रस्तुत किया है।

इनके अतिरिक्त प्रदेशव्यापी जिनका प्रभाव रहा ऐसी अनेक विभूतियां हुईं जिन्होंने अपने से प्रभावित कार्य-क्षेत्रों के लोगों को शिक्षित किया।

तथापि लो० तिलक एवं म० गांधी के द्वारा किए गए योगदान के उल्लेख के बिना यह वर्णन अपूर्ण रहेगा। उनके विचारों का प्रभाव समस्त भारतवर्ष में हुआ। यद्यपि उन्होंने स्वातंत्र्य प्राप्ति के लिए संघर्ष किया तथापि आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर राष्ट्र को प्रेरित करने के लिए स्वातंत्र्य एक साधन माना। एक ओर जहां लो० तिलक ने अपने गीता रहस्य ग्रंथ के द्वारा तथा अपने तदनुरूप आदर्श जीवन द्वारा निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन करते हुए लोगों को कर्म करने की प्रेरणा दी वहां दूसरी ओर म० गांधी ने अस्पृश्यता, भौतिक सुख की लालसा आदि विकृतियों को दूर करने का प्रयास अपने आत्मकठोर (self denying) जीवन के द्वारा उदाहरण प्रस्तुत करते हुए प्रभावी ढंग से किया और सत्य और अहिंसा का आदर्श अपने जीवन में उतारकर लोगों को तदनुसार कर्म करने की प्रेरणा दी।

इन श्रेष्ठ विभूतियों ने जो कार्य किए उनके बारे में बहुत साहित्य प्रकाशित हुआ है। उनका पुण्य स्मरण करते हुए अब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ धर्म की इस आदर्श व्यवस्था के आधार पर राष्ट्रोत्थान के लिए क्या और कैसे कार्य कर रहा है इस संबंध में विचार करेंगे।

संघ के प्रणेता डा० केशव बलीराम हेडगेवार जन्मतः देशभक्त थे। अपने पवित्र हिंदू धर्म पर एवं उसके द्वारा प्रतिष्ठित आदर्शों पर उनकी अगाध श्रद्धा थी। जब वे सात-आठ वर्ष की आयु में प्राथमिक पाठशाला में पढ़ते थे तब इ० स० १८९७ में विक्टोरिया रानी के राज्यारोहण का हीरक महोत्सव अपने यहां भी मनाया गया और सब छात्रों को पाठशाला में मिठाई बांटी गयी। अन्य बालकों ने वह खा ली। परन्तु डा० हेडगेवारजी ने यह विचार कर वह मिठाई फेंक दी कि मातृभूमि को दासता का कलंक लगाकर सम्राज्ञी पद विभूषित करने वाली विक्टोरिया की हीरक जयंती पर बांटी गयी मिठाई यानी जले पर नमक छिड़कना है। माध्यमिक विद्यालय में जब वे पढ़ते थे तब बंगभंग के विरोध में आन्दोलन चल रहा था। विद्यालय में उन्होंने 'वंदे मातरम्' का नारा लगाया। अतः वे विद्यालय से निष्कासित किए गए। उन दिनों कलकत्ता क्रान्तिकारी एवं अन्य राष्ट्रीय आंदोलनों का केन्द्र था। अतः मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् वे वहां से नेशनल मैडिकल कॉलेज में अध्ययन करने के लिए गए। चार वर्ष विद्यार्जन करने के पश्चात् दो-तीन वर्ष वहां रहे। इस अवधि में उनका क्रांतिकारी आन्दोलनों से संबंध रहा। वहां से वापस लौटने पर उन्होंने न विवाह किया और न व्यवसाय किया। सब गरम एवं नरम दलों के साथ उन्होंने काम किया। १९२० में नागपुर में हुए कांग्रेस अधिवेशन में स्वयंसेवक दल के वे प्रमुख थे। फिर असहयोग आंदोलन में उनके द्वारा भाषण दिए जाने पर उन पर राजद्रोह का मुकदमा चला। उस समय सफाई (defence) न देने के आदेश थे। परन्तु यह बात उन्हें नहीं जंची और सफाई प्रस्तुत करते हुए न्यायालय में उन्होंने अपना बयान दिया। तब न्यायाधीश ने अपने फैसले में सजा देते समय यह लिखा कि—"His defence is more seditious than his speech" अर्थात् 'सफाई के तौर पर उनके द्वारा दिया गया बयान उनके भाषण से भी अधिक राजद्रोहात्मक है'। उन दिनों महात्मा गांधी ने 'खिलाफत' आंदोलन में भाग लेकर जो मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति अपनायी उसके वे विरुद्ध थे। वे कहते थे कि 'यह 'खिलाफत' नहीं 'अखिल आफत' है।' अतः सजा काटकर मुक्त होने के पश्चात् जब हिन्दू महासभा की स्थापना हुई तब वे उसके सदस्य बने और एक समाचार पत्र भी उन्होंने चलाया।

राष्ट्र के रोग का निदान—परन्तु इन सब आंदोलनों में भाग लेने के पश्चात् भी उन्हें समाधान नहीं हुआ। जब तक रोग का अचूक निदान नहीं होता तब तक

चिकित्सा कर रोग का निवारण करना असंभव है यह विचार उनके मन में आया। अतः राष्ट्र की बीमारी का निदान करने में वे जुट गए और उन्होंने निदान किया कि आखिर हमारी पराधीनता के लिए परायों को दोष देना सर्वथा अनुचित है। गत एक हजार वर्षों से हम मोह से अभिभूत हैं। धर्म के संबंध में हमारी विकृत कल्पनाएं हुई हैं। अधर्म को ही हम धर्म समझ बैठे हैं। हमारे संतों ने हमें जागृत करने का प्रयास करने के पश्चात् भी व्यक्तिनिष्ठ जीवन की विकृत कल्पना हम पर सवार है परिणामतः धर्म को भी हमने व्यक्तिगत मुक्ति की संकल्पना को भी हमने व्यक्तिगत मुक्ति तक सीमित किया है और समष्टि की मुक्ति का प्रयास अनावश्यक एवं गौण मान बैठे हैं। स्वाभिमानशून्य बने हैं। परिणामतः आपस में संघर्ष कर अपने देश में आक्रांताओं को आने के लिए मानो उनका स्वागत करने के लिए, हमने वायु-मंडल निर्माण कर रखा था। यथार्थ में हमारे लोगों ने आपस में लड़कर शक्ति की रिक्तता का निर्माण करते हुए उन्हें आक्रमण करने के लिए प्रेरित भी किया, निमंत्रित भी किया, और उनकी मदद करते हुए स्वागत भी किया। अतः यह सब हमारा ही दोष है। अपनी दुःस्थिति के लिए हम ही उत्तरदायी हैं। जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि—

'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मेव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः॥' गीता ६-५

अर्थात् 'अपने द्वारा अपना उद्धार करें (और) अपने आपको अधोगति में न पहुंचाएं क्योंकि जीवात्मा आप ही अपना मित्र है (और) आप ही अपना शत्रु है।' यानी पराधीनता के कारण हमारे में दोष उत्पन्न नहीं हुआ अपितु हमारे धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में दोष उत्पन्न हुए इसलिए हम पराधीन हुए। परंतु आज जीवन में जो भी कुछ त्रुटियां हैं उनके लिए हम अंग्रेजों को दोष देते हैं। यह सर्वथा अनुचित है। वास्तविकता के विपरीत है। हो सकता है कि अंग्रेजों के शासन के प्रति असंतोष निर्माण कर उस असंतोष के द्वारा समाज को जागृत करने के लिए इस भाषा का प्रयोग किया जाता होगा। परन्तु वह वास्तविकता से परे होने के कारण अपने दोष नष्ट करने की और दुर्लक्ष होकर हम आत्मवंचना ही कर लेते हैं। पुनः इस भाषा के प्रयोग से द्वेषभाव ही जागृत होता है परिणामतः प्रतिक्रियात्मक (reactionary) राष्ट्रभक्ति जागृत होती है। वास्तविक भावात्मक (positive) राष्ट्रभक्ति के संस्कार नहीं किए जाते। संयोगवश अंग्रेज यहां से चला गया तो यह प्रतिक्रियात्मक प्रेम होने से उसका लोप होकर हम पुनः आपस में संघर्ष करने में जुट जाएंगे और परिणामतः पुनः शक्ति की रिक्तता निर्माण होगी जिसके कारण दूसरों को आक्रमण करने के लिए हम वायुमंडल निर्माण करेंगे।

प्रक्षोभजनित शक्ति अस्थायी—पुनः असंतोष द्वारा प्रक्षोभ निर्माण किया जा सकता है स्थायी शक्ति का निर्माण नहीं किया जा सकता। प्रक्षोभ द्वारा अस्थायी अल्पजीवी, अनियंत्रित विवेकहीन शक्ति निर्माण की जा सकती है जो उद्देश्य की पूर्ति में अक्षम होगी; क्योंकि अंग्रेजों का साम्राज्य इतना दृढ़मूल है कि इस प्रकार की अस्थायी शक्ति उसे उखाड़ने में असमर्थ होगी।

केवल राजनीतिक दृष्टिकोण एकांगी—अपरंच आज जो आंदोलनात्मक रुख अपना कर राजनीतिक क्षेत्र में कार्य किया जाता है, वह केवल एकांगी दृष्टिकोण है। उसके द्वारा आन्दोलनकारी (agitators) निर्माण होंगे अच्छे दूरदर्शी राजनीतिज्ञ (statesman) अच्छे राजनयिक (diplomats) अथवा अच्छे कुशल प्रशासक (administrators) निर्माण नहीं किए जा सकते। पुनः राजनीति तक ही हमारा जीवन सीमित करना अनुचित होगा, हानिप्रद होगा। राजनीति जीवन का अंगमात्र है, सर्वस्व नहीं। स्वाधीन होना यह राष्ट्र को वैभव के अत्युच्च शिखर पर पहुंचाने का एक साधन मात्र है। वह स्वयं साध्य नहीं, जैसा कि अपनी प्रतिज्ञा में 'अपने पवित्र हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू समाज का संरक्षण कर' इस पूर्वसाध्यबंधक (condition precedent) के द्वारा सुस्पष्ट किया गया है। अतः राष्ट्रजीवन के अन्य अंगों को भी हृष्ट-पुष्ट करना आवश्यक है और इसलिए केवल आन्दोलनकारी नेताओं के होने से यह कार्य पूर्ण नहीं हो सकता। राष्ट्र की सर्वांगीण उन्नति होने पर ही राष्ट्र की जीवन शक्ति बढ़ेगी।

राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में—चाहे वह राजनीतिक क्षेत्र हो या अन्य क्षेत्र—निष्ठावान् समर्पण भावयुक्त कार्यकर्त्ताओं का अभाव था और है। राष्ट्र की जीवनशक्ति ऐसे निष्ठावान् समर्पणभाव युक्त कार्यकर्त्ताओं की अखंड परंपरा में निहित होती है और अपने राष्ट्रीय आदर्शों से अनुप्राणित होने पर ही व्यक्ति में निष्ठा एवं समर्पण भाव निर्माण किया जा सकता है। अतः जब तक राष्ट्रीय आदर्शों का आधार नहीं लिया जाता तब तक निष्ठावान् समर्पण भाव युक्त कार्यकर्त्ता निर्माण नहीं किए जा सकते और जब तक कार्यकर्त्ताओं की अखंड परंपरा निर्माण नहीं होती तब तक राष्ट्र जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त करना कठिन है। यानी जब तक अपने राष्ट्रीय आदर्शों से अनुप्राणित निष्ठावान् समर्पण भावयुक्त कार्यकर्त्ताओं की अखंड परंपरा निर्माण नहीं होती, तब तक स्वाधीन होना, स्वाधीन होने के पश्चात् स्वाधीनता की रक्षा करना और अपनी प्राचीन श्रेष्ठता को प्राप्त करना सर्वथा असंभव है।

अतः उन्होंने यह अनुभव किया कि समाज में आंतरिक शुचितापूर्ण लोगों की आवश्यकता है। इस दृष्टि से निरीक्षण करने पर उन्होंने देखा कि आंतरिक शुचिता की दृष्टि से मनुप्रणीत दशलक्षण धर्म व्यक्तिगत आचरण में उतारने वाले लोगों की भी कमी नहीं है। तथापि उनमें राष्ट्राभिमान नहीं दिखता। जहां

राष्ट्राभिमान दिखा वहां अकेलेपन की भावना के परिणामस्वरूप आत्मविश्वास की कमी है जहां आत्मविश्वास है वहां ईर्ष्या मत्सर आदि मनोविकारों से लोग पीड़ित हैं और दूसरों से अपने को अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो इसलिए दूसरों के दोष बताते हुए लड़ पड़ते हैं। परिणामतः राष्ट्र के उत्थान के लिए उनके व्यक्तित्व का जैसा उपयोग होना चाहिए वैसा नहीं होता। यदि ईर्ष्या आदि दुर्गुण न हों तो भी परायों की तुलना में अपनी शक्ति कम है इसका विचार न करते हुए किए गए अन्याय के विरोध में क्रोधाभिभूत होकर संयम गंवाकर ऐसे चैतन्ययुक्त लोग, ज्योति पर पतंग की भांति टूट पड़ते हैं। यानी अन्तिम सफलता के लिए संयमपूर्वक सातत्य के साथ धैर्य धारण कर परिश्रम करने की अपेक्षा आत्माहुति करना अधिक पसंद करते हैं। फलतः जो थोड़ी-बहुत शक्ति निर्माण होती है वह भी नष्ट हो जाती है।

रोग की चिकित्सा : सात्विक कार्यकर्त्ताओं की अखंड परंपरा—अतः उन्होंने सोचा कि आंतरिक शुचिता के मनुप्रणीत दशलक्षण धर्म का संस्कार करते हुए भावात्मक राष्ट्रभक्ति के आधार पर राष्ट्राभिमान एवं आत्मविश्वास समाज में जागृत करना होगा। जिनमें इन गुणों का विकास हुआ है उनमें ईर्ष्या मत्सरादि दुर्गुण उत्पन्न होकर पारस्परिक संघर्ष न हो इसलिए ध्येय के प्रति निरपवाद समर्पण भाव (आत्मनिवेदनरूप भक्ति) का जागरण करना होगा। अर्थात् उन लोगों का अहंकार नष्ट करना होगा और परायों की शक्ति की तुलना में अपनी शक्ति को नापकर धैर्य धारण कर संयम रखते हुए अन्तिम सफलता प्राप्त करने के लिए कब, क्या, कैसे, और किसने करना यह विवेक कर योग्य निर्णय करने की क्षमता लोगों में निर्माण करनी होगी और साथ ही सिद्धि और असिद्धि से उन्हें निर्विकार कर्त्तव्यरत बनाना होगा। अर्थात् साधनों के औचित्य का विचार करने की प्रवृत्ति निर्माण करनी होगी। यानी सात्विक कार्यकर्त्ता निर्माण करने होंगे। सात्विक कर्त्ता के लक्षण भगवान् श्री कृष्ण ने बताए हैं कि—-

'मुक्तसंगोऽनहंवादी
धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः
कर्त्ता सात्विक उच्यते ।।' गीता १८-२६

अर्थात् '(जो कर्त्ता) आसक्ति से मुक्त, अहंकाररहित, धैर्य एवं उत्साह से युक्त (एवं) कार्य के होने अथवा न होने में हर्षशोकादि विकारों से रहित है (वह) कर्त्ता सात्विक कहा जाता है।' राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए, भिन्न-भिन्न पहलुओं को हृष्ट एवं पुष्ट करने के लिए इस मनोवृत्ति के कार्यकर्त्ता निर्माण करने होंगे, जो अपनी रुचि, प्रवृत्ति, एवं पात्रता को देखकर अपना कार्य-क्षेत्र चुनकर उसमें निःस्वार्थ रूप से कार्य करेंगे। इस प्रेरणा से युक्त कार्यकर्त्ता निर्माण हुआ तो कर्म आप ही आप होकर रहेगा। उनके इन विचारों का स्मरण होने पर उसके अनुरूप

एक वेदमंत्र स्मरण में आता है जिसमें कहा गया है कि—

'न कर्म विजिज्ञासीत कर्तारं विद्यात्' । कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् ३-८ अर्थात् 'कर्म को जानने की इच्छा मत कर कर्त्ता को जान (पहचान)' इस मंत्र में कर्त्ता का दार्शनिक अर्थ यह है कि 'जीवात्मा परमात्मा है यह पहचान।' इस चिंतन के परिणामस्वरूप कर्तृत्व के संबंध में अहंकार की भावना नष्ट होती है और यह सब परमात्मा करता है यह भावना दृढ़ होकर जीवात्मा परमात्मा में लीन होता है। उसकी व्यक्तिगत कामनाएं नष्ट होती हैं। अतः वह अर्थ ठीक ही है। व्यावहारिक दृष्टि से हमने यदि 'न कर्म विजिज्ञासीत् कर्तारं संस्कुर्यात्' यह विचार किया और कर्त्ता पर ठीक-ठीक संस्कार हुए तो कर्म आप ही आप होकर रहेगा, कर्म की चिंता करने का कोई कारण नहीं यह एक मार्गदर्शक तत्त्व हमें प्राप्त होता है।

ये संस्कार जिन पर किए जाते हैं उन्हें संगठन के सूत्र में गूंथना होगा। तभी अंतिम विजय प्राप्त करने के लिए हम पर्याप्त शक्ति सग्रहित कर सकेंगे, इस निकर्ष पर, इस निर्णय पर वे पहुंचे। ये विचार व्यक्ति अपने आचरण में सदैव उतारे इसलिए नित्य साधना की उपासना की—अपरिहार्यता भी उन्होंने अनुभव की; क्योंकि चारों ओर का दूषित वायुमंडल व्यक्ति के शरीर को जिस प्रकार दूषित करता है उसी प्रकार चारों ओर का दूषित वायुमंडल व्यक्ति मन को भी दूषित करता है। अतः आंतरिक शुचिता के लिए केवल ब्रह्मचर्याश्रम म ही नहीं अपितु यावज्जीव हमें मन पर संस्कार करने के लिए उपासना करनी होगी।

शाखा के रूप में सामूहिक उपासना—उस दृष्टि से मन पर संस्कार करने के लिए उन्होंने १९२५ की विजयादशमी के सुमुहूर्त पर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की स्थापना की। उसकी नित्य लगने वाली शाखाओं के रूप में उन्होंने सामूहिक उपासना पद्धति अपनायी और मनुप्रणीत दशलक्षण धर्म के साथ राष्ट्रोत्थान के लिए आवश्यक उन अन्य आंतरिक शुचिता के गुणों का—यानी आत्मविश्वास, निर्भयता, विजिगीषा, समर्पण-भाव एवं आफलोदय कर्म करने के लिए सातत्य का—संस्कार करना प्रारंभ किया। यह सामूहिक उपासना पद्धति वस्तुतः कोई नई पद्धति नहीं। वे सदैव यह कहा करते थे कि 'मैं ध्येय के अथवा प्राप्त्यर्थ अपनायी गयी कार्य-प्रणाली के संबंध में कोई नई बात नहीं बता रहा हूं। जो हम पहले जानते थे, करते थे और जिसका हमें आज विस्मरण हुआ है उसी का मैं राष्ट्र को केवल स्मरण करा दे रहा हूं।' सामूहिक उपासना पद्धति अपने यहां वैदिक एवं पौराणिक काल में थी। यज्ञ आदि के प्रसंग पर सब लोग एकत्रित हुआ करते थे। उस समय जीवन पवित्र करने के लिए सैद्धांतिक प्रतिपादनों एवं भगवद्गुण कीर्तनों द्वारा संस्कार किए जाते थे। परंतु कालांतर में उस उपासना पद्धति का लोप हुआ और व्यक्ति-व्यक्ति ने केवल व्यक्तिगत उपासना पद्धति अपनायी।

कुछ पथ्यों का पालन—व्यक्ति-व्यक्ति पर संस्कार कर मनुष्य निर्माण के कार्य द्वारा राष्ट्र को संगठित करते समय अपने धर्म द्वारा निर्दिष्ट कुछ पथ्यों का पालन करना मनुष्य निर्माण के लिए न केवल आवश्यक अपितु अपरिहार्य भी है यह उन्होंने अनुभव किया और इसलिए उन पथ्यों का पालन करने का उन्होंने निश्चय किया।

(१) संस्कारों द्वारा विकास की प्रक्रिया का अवलंबन—सर्वप्रथम उन्होंने यह निर्णय किया कि यद्यपि यह कार्य यथासंभव शीघ्र होना आवश्यक है तथापि इस कार्य में अधीर होकर जल्दबाजी कर एकदम क्रांति द्वारा यह कार्य पूर्ण नहीं किया जा सकता। क्रान्ति का विचार तर्कनिष्ठ नहीं, व्यर्थ है, आज के विज्ञान द्वारा आविष्कृत सत्य के भी विपरीत है यह हम पहले प्रकरण १२ में पढ़ चुके हैं। और संस्कार करते समय तत्त्व आत्मसात् करने की व्यक्ति की क्षमता देखकर ही तदनुसार उसे उपदेश करना होगा। तभी उसका विकास हो सकेगा यह उन्होंने अनुभव किया और तदनुसार संस्कार करने का निश्चय किया।

(२) भावात्मक राष्ट्र-भक्ति का संस्कार—स्वराष्ट्राभिमान जागृत करते समय अपने राष्ट्र पर प्रतिक्रियात्मक (Reactionary) नहीं, अपितु भावात्मक (positive) प्रेम करने का उन्होंने साग्रह प्रतिपादन कर तदनुसार स्वयंसेवकों पर संस्कार किए। राष्ट्र पर किया हुआ प्रेम भावात्मक है अथवा प्रतिक्रियात्मक है इसमें विवेक करना कठिन रहता है क्योंकि दोनों में बहुत सूक्ष्म भेद है और आत्मचिंतन के अभाव में उसका ज्ञान होना कठिन है।

राष्ट्र पर किया हुआ प्रेम यदि प्रतिक्रियात्मक हो तो वह अस्थायी होता है। प्रतिक्रिया सदैव क्रिया के कारण उत्पन्न होती है और क्रिया के अभाव में वह भी नहीं रहती। तालाब के पानी में पत्थर फेंकने से अथवा हवा के बहाव से लहरें उठती हैं अथवा उथल-पुथल मचती है। परंतु उस पहली क्रिया के अभाव में वह प्रतिक्रिया नष्ट हो जाती है और पानी शांत रहता है। उसी प्रकार प्रतिक्रियात्मक प्रेम परायों की उपस्थिति में प्रकट होगा परंतु उनके न रहने पर वह भी नहीं रहेगा।

पुन: प्रतिक्रियात्मक प्रेम दूसरों के द्वेष पर आधारित होता है और दूसरों का द्वेष करना अपने धर्म को—जिसका धारण करना ही प्रमुख लक्षण है—सर्वथा अमान्य है। यहां यह स्मरणीय है कि स्टालिन की यह जो उक्ति है कि "Extreme hatred for our enemy is the key-note to our success."
अर्थात् 'हमारे शत्रुओं के प्रति अत्यधिक द्वेष की भावना ही हमारी सफलता का रहस्य है', श्री गुरुजी ने उसकी आलोचना करते हुए कहा था कि 'इस वाक्य में केवल दो शब्द यदि बदल दें तो हमारी सफलता का रहस्य ज्ञात होगा।' और वे आगे बोले "Extreme love for our people is the key-note to our

success."
अर्थात् 'हमारे समाज के लिए अत्यधिक प्रेम की भावना ही हमारी सफलता का रहस्य है।' द्वेष की भावना हमारे धर्म को सर्वथा अमान्य होने के लिए और भी कुछ कारण हैं।

जहां परायों के द्वेष पर आधारित प्रेम की भावना रहेगी वहां द्वेष करना ही मनुष्य का स्वभाव बन जाता है और परायों के न रहने पर वह अपने ही समाज से द्वेष करने लगता है। यद्यपि महात्मा गांधी ने 'अंग्रेजों से द्वेष मत करो' यह उपदेश किया था तथापि उस उपदेश में यह जो उद्देश्य निहित था उसे कांग्रेस के लोगों में आत्मसात् करने की पात्रता नहीं थी और उन्होंने अंग्रेजों के द्वेष के आधार पर कार्य किया। परिणामतः हम यह अनुभव करते हैं कि कांग्रेसियों की जो द्वेष करने की आदत बनी वह अंग्रेजों के मैदान से हट जाने के पश्चात् ज्यों-की-त्यों बनी रही। अतः अपने से मतभेद रखने वाले अपने ही लोगों से उन्होंने द्वेष किया; उन्हें हेय माना। बिना कारण दो बार संघ को अवैध घोषित कर उसके कार्यकर्त्ताओं को बंदी बनाने के एवं बिना कारण आपातकाल घोषित कर विपक्षियों को कष्ट देने के रूप में उस द्वेष भावना की अभिव्यक्ति हम स्पष्ट रूप से देख चुके हैं।

पुनः दूसरों के द्वेष के कारण अपने राष्ट्र से प्रेम करने वाला व्यक्ति अपने प्रेमास्पदभूत राष्ट्र के बदले जिनसे द्वेष करता है उन्हीं का चिंतन करने लगता है। मानस शास्त्र का यह सिद्धांत है कि मनुष्य जिसका चिंतन करता है उसके जैसा बन जाता है। श्रुति भी कहती है कि 'यं वा उपास्ते स तद् भवति।' यानी वैसा ही बन जाता है जैसा वह चिंतन करता है। अंग्रेजों के यहां से जाने के पश्चात् भी अंग्रेजियत का पहले से भी अधिक अनुकरण इस सिद्धांत के समर्थन का स्पष्ट प्रमाण है।

जहां प्रतिक्रियात्मक प्रेम रहेगा वहां भक्तिभाव जागृत नहीं होगा। फिर समर्पण की भावना तक वह भक्ति तीव्र होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसलिए अपने राष्ट्र पर भावात्मक (Positive) प्रेम होना आवश्यक होता है। अपने राष्ट्र पर ईश्वर के सगुण अंश की कल्पना कर अपने कर्मों द्वारा उसकी पूजा कर, उन कर्मों से प्राप्त फल उसे ही अर्पण करने से अंतःकरण में भक्ति का भाव अति तीव्र रूप से जागृत होता है। अतः डा० हेडगेवार ने अपने राष्ट्र पर भावात्मक प्रेम किया और वैसे ही संस्कार स्वयंसेवकों के मन पर करने का निश्चय किया।

(३) **स्वमत मात्र का प्रतिपादन**—जिस तीसरे पथ्य का पालन करने का उन्होंने निश्चय किया वह है केवल स्वमत के प्रतिपादन का। अपने मत का प्रतिपादन करते समय दूसरों के मतों का खंडन करने के लिए वाद करने का अनेक लोगों को शौक रहता है। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' यह अपने यहां एक उक्ति

भी है। जहां स्वमताभिनिवेश रहता है वहां तत्त्वबोध होता है अथवा नहीं, मालूम नहीं; परंतु 'वादे वादे जायते शीर्षभेदः' अवश्य होता है, और लोग दो गुटों में बंट जाते हैं। भक्ति के मार्ग का अवलंब करने वालों के लिए नारदीय भक्ति सूत्र में मार्गदर्शन किया है कि 'वादो नावलंब्यः' ७४ और 'बहुमूल्यावकाशादनियतत्वाच्च' ७५ अर्थात् 'वाद का अवलंब नहीं करना चाहिए; क्योंकि समय बहुत मूल्यवान् है और (पुनः) उस वाद का कभी अंत नहीं होता।' जिसे वाद द्वारा तत्त्वबोध करा दिया वह कर्म करने को प्रवृत्त होता ही है ऐसी भी बात नहीं। उससे तर्क करने में समय गंवाने के बदले दूसरे सहृदय व्यक्ति को मिलने से हम उसे कर्म करने को प्रेरित कर सकेंगे। अतः उन्होंने कभी वाद नहीं किया। अनुभव पर आधारित उनका विचार था कि बुद्धि के द्वारा समझाकर कर्म करने को प्रवृत्त करने की अपेक्षा तपः साधना करते हुए यानी स्वयं कष्ट सहते हुए दूसरों के अंतःकरण में आत्मीयता जागृत कर ध्येय समझाना और उसकी पूर्ति के लिए कर्म करने के लिए प्रेरित करना अधिक सरल है, अत्यधिक फलदायी है। अतः कोई भी व्यक्ति वाद करने की बुद्धि से आया तो भी वाद करना उन्होंने टाला। परिणामतः यह अनुभव रहा कि जहां एक ओर उन्होंने अंतःकरण में व्याप्त राष्ट्रभक्ति एवं स्वकर्म निष्ठा के द्वारा संबंध में आए लोगों को ध्येय समझाकर उनमें ध्येय के प्रति समर्पणभाव जागृत करते हुए उन्हें कर्म की प्रेरणा दी, वहां दूसरी ओर उनसे मतभेद रखने वाले लोगों के भी वे आदर के भाजन बने।

(४) अहंवादिता का संस्कार : तदर्थ प्रसिद्धिपराङ्मुखता—अहंभाव यानी 'अहमितिभावः'। मैं हूं अर्थात् अन्य लोगों से भिन्न हूं यह अलगाव की भावना निर्माण करता है और मैंने और लोगों से कुछ विशेष कार्य किया, मुझे उस कार्य को सम्पन्न करने का श्रेय अधिक है यह भाव भी निर्माण करता है। श्रेयोग्रहण के प्रति आसक्ति भी निर्माण करता है और अपने ध्येय के प्रति निरपवाद समर्पण-भाव जागृत करने में बाधक होता है। अहंकार से ईर्ष्या, मत्सर आदि मनोविकार बढ़कर पारस्परिक संघर्ष भी निर्माण होते हैं। अतः हमारे धर्म ने अहंकार का त्याग करने का पाठ सिखाया है। उसका त्याग करने की दृष्टि से धर्म द्वारा निर्दिष्ट सर्वकर्मफलत्याग की भावना उन्होंने अपनायी और यही भावना स्वयं-सेवकों के अंतःकरण पर अंकित करने की दृष्टि से उन्होंने कार्यक्रम की रूपरेखा बनायी जैसा कि हम गुरु दक्षिणा अर्पण करने की पद्धति में अनुभव करते हैं। उस दृष्टि से उन्होंने प्रसिद्धिपराङ्मुखता को महत्त्व दिया और वे स्वयं प्रसिद्धि से एवं आत्मप्रशंसा से कोसों दूर रहे। यों भी अपने धर्म ने आत्मप्रशंसा को हेय माना है। इसके पूर्व हमने भारतीय युद्ध की एक घटना, जब अर्जुन युधिष्ठिर को मारने के लिए उद्यत होता है, पढ़ी है। आगे 'बड़े भाई की निंदा करना उसे मारने जैसा ही कर्म है। अतः उसका वध करने की अपेक्षा तू उसकी निंदा कर'

ऐसा श्रीकृष्ण के सुझाने पर अर्जुन युधिष्ठिर की निंदा करता है और फिर वध के पाप के प्रक्षालन के लिए आत्महत्या करने का विचार करता है। तब भी कृष्ण पुन: उसे समझाते हैं 'आत्मघात करने के बदले तू आत्मप्रशंसा कर अर्थात् आत्मप्रशंसा यह आत्मघात ही है।' सार यह है कि आत्मप्रशंसा हेय है, त्याज्य है, निंद्य है, यह हमारी मान्यता है। उससे अहंकार बढ़ता है। व्यक्ति में अहंकार बढ़ा तो वह व्यक्ति में जैसी अन्य व्यक्तियों से अलगाव की भावना बढ़ाता है उसी प्रकार संघ के सामूहिक मन का संस्थागत अहंकार बढ़ा तो वह संस्थागत अहंकार भी संघटन में समाज से जिससे समरस होना उसका ध्येय है अलगाव की भावना जगायेगा। अत: संघ को भी उन्होंने प्रसिद्धि से दूर रखा। संघ के कार्य के बारे में समाज में विपरीत धारणा न हो एतदर्थ जितनी प्रसिद्धि आवश्यक हो उतनी ही प्रसिद्धि के लिए वे अवश्य प्रयत्न करते थे। परन्तु जिससे संस्थागत अहंकार बढ़ेगा उस प्रसिद्धि को उन्होंने त्याज्य माना। उसमें एक हेतु यह भी था कि सर्वकर्म-फलत्याग की भावना स्वयंसेवकों के मन पर अंकित की जाय। दूसरा हेतु यह था कि वे जानते थे जो नाम के पीछे पड़ते हैं वे कार्य को भूल जाते हैं। और तीसरा उद्देश्य यह कि अमुक एक कार्य संघ ने किया ऐसी समाज की भावना बनने की अपेक्षा यह समाज ने ही किया, यदि समाज की यह भावना बनी तो उसके कारण समाज का मनोबल बढ़ेगा, उसका आत्मविश्वास जागृत होकर यह कार्य सारे समाज को करना चाहिए ऐसी प्रवृत्ति भी समाज में बढ़ेगी। परिणामत: अधिक व्यक्ति कर्त्तव्यरत होकर ईप्सित प्राप्त करने के लिए अधिक शक्ति का उपयोग हो सकेगा। अत: प्रसिद्धि पराङ्मुखता यह गुण अपनाया गया और आत्माप्रशंसा करना निम्न स्तर का परिचायक है यह हमारा मानदंड बना।

(५) **विशिष्ट उपासना का आग्रह नहीं**—पांचवा पथ्य जो उन्होंने अपनाया वह यह है कि संघ न किसी एक प्रकार की व्यक्तिगत उपासना पद्धति का आग्रह करेगा और न यह आग्रह करेगा कि अमुक एक ही मार्ग से राष्ट्रसेवा के लिए कार्य करो। इन दोनों के लिए व्यक्ति को अपनी रुचि एवं प्रवृत्ति के अनुसार चयन करने का अवसर रहे यह उनकी धारणा थी। हम यह पहले पढ़ चुके हैं कि यह भी अपने धर्म की मान्यता है कि सब मार्ग एक ही गंतव्य को पहुंचाते हैं। अत: प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि, प्रवृत्ति, पात्रता एवं धारणा के अनुसार व्यक्तिगत उपासना करें अथवा राष्ट्रसेवा के लिए मार्ग अपनाएं; परंतु साथ ही सामूहिक उपासना का भी अंगीकार करें। सामूहिक उपासना का यह आग्रह करते समय भी किसी की व्यक्तिगत उपासना में अथवा धारणाओं में वह सामूहिक उपासना पद्धति बाधक होती है ऐसा यदि एक भ्रामक विचार उस व्यक्ति के मन में आता है तो उतनी मात्रा में उसे सहूलियत देने की भी उन्होंने व्यवस्था दी। उन्हें विश्वास था—और वह साधार था—कि शनै:-शनैः नित्य किये जाने वाले

संस्कारों द्वारा सामूहिक उपासना पद्धति व्यक्ति के आत्मिक विकास में बाधक होने के बारे में उसकी जो भी भ्रामक धारणा है वह दूर होगी और इस राष्ट्रधारा में अपनी बूंद मिलाने में ही जीवन की कृतार्थता है यह सत्य वह अपने नित्य सहवास द्वारा अनुभव करेगा। और इसलिए जल्दबाजी में संस्कार करने में उन्होंने कभी विश्वास नहीं किया। याने व्यक्ति पर संस्कार करते समय संगठन के लिए अनुशासन है, अनुशासन के लिए संगठन नहीं यह भूमिका उन्होंने अपनायी और अनुशासन को उस दृष्टि से, जैसी कि हमारे धर्म ने व्यवस्था दी है, उन्होंने लचीला बनाया। समाज की धारणा होने के लिए एकरूपता नहीं एकातमता चाहिए यह अपने धर्म की दी हुई व्यवस्था है यह हम पहले पढ़ चुके हैं।

(६) **दैनिक राजनीति संगठन के लिए निषिद्ध**—छठा पथ्य जो उन्होंने मनुष्य निर्माण के कार्य के लिए आवश्यक समझा वह यह है कि प्रचलित दैनंदिन राजनीति से संघ को अलग रखना। जो व्यक्ति जिस राजनीतिक दल में कार्य करना चाहता हो उसमें करे अथवा बिलकुल न करे, परंतु संगठन को राजनीतिक दलों से अलग रखना। स्वयंसेवक को अपने व्यक्तिगत विचारों के अनुसार जिस राजनीतिक प्रवाह में उतरना हो उसमें उतरने के लिए स्वतंत्रता दी। केवल बंधन यह कि हिंसाचारी दलों से और राष्ट्रबाह्य निष्ठा रखने वाले दलों से स्वयंसेवक अलग रहे। संघ के पदाधिकारियों के लिए यह भी बंधन उन्होंने आवश्यक माना कि वे किसी राजनीतिक दल के पदाधिकारी न बनें; क्योंकि संघ के पदाधिकारी आखिर अपने धर्म के ही संस्कार करने के लिए कटिबद्ध हैं और जैसा कि हम विधिनिषेध व्यवस्था एवं क्रियान्विति प्रकरण १० में पढ़ चुके हैं, आचार्यों का शासन तंत्र से दूर रहना ही हमारे धर्म ने उचित माना है और हमारे धर्म द्वारा दी हुई इस व्यवस्था का औचित्य भी इतिहास ने प्रमाणित किया है। आधुनिकतम कहे जाने वाले देश भी इस व्यवस्था को अपना रहे हैं।

मनुप्रणीत दशलक्षण धर्म का शाखा द्वारा संस्कार—हम यह अनुभव करते हैं कि इस प्रकार पथ्यों का पालन करते हुए संघ की शाखा के रूप में अपनायी गयी सामूहिक उपासना पद्धति द्वारा प्राप्त होने वाला सहवास, कोई भी छोटा-बड़ा कार्य करते समय अकेलेपन की भावना दूर कर मनुष्य में यह विश्वास उत्पन्न करता है कि कार्य संपन्न करने के लिए हम अनेक हैं। उसका स्वाभाविक परिणाम (१) धृति—धैर्य के—उदय में होता है। और सूझबूझ का कौशल्य धृति का अनुगामी रहता है। सबको साथ ले चलने की आंतरिक भावना, दूसरों में दिखने वाले दोषों के लिए उनको, (२) क्षमा कर उन दोषों को दूर करने के लिए प्रेरित करती है। एक अत्यन्त उच्च ध्येय का—अपने इस हिंदू राष्ट्र को वैभव के उच्चतम शिखर पर पहुंचाने का—नित्य संस्कार होने के कारण उस पर मन एकाग्र होकर, (३) दम का अभ्यास होता है; अतः सहजरूप में वश में रहता है। सारे राष्ट्र के

घटक अपने आत्मीय हैं यह नित्य किया जाने वाला संस्कार, (४) अस्तेय के लिए प्रवृत्त करता है। अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए मेरा जीवन उपकरण मात्र है अतः उसे शुद्ध एवं पवित्र रखना चाहिए यह भावना जीवन में अंतर्बाह्य, (५) शुचिता उतारती है। और जैसे-जैसे मन ध्येय की ओर एकाग्र होते जाता है वैसे-वैसे हम अनुभव करते हैं कि अपनी रुचि, अरुचि और इंद्रियजनित अस्थायी सुख की वासना नष्ट होती है; परिणामतः स्वाभाविक रूप से, (६) इंद्रिय निग्रह होता है। सत् एवं असत् में—कार्याकार्य में—विवेक करना वह जिसका गुण है वह, (७) धी अर्थात् बुद्धि विकसित होती है। (८) विद्या का भौतिक अंग तो हमें पाठशालाओं में ज्ञात होता ही है; पुनः हम सब अपनी मातृभूमि के पुत्र हैं—अर्थात् एक-दूसरे के आत्मीय हैं—यह संस्कार नित्य सहवास से बढ़कर आत्मा की व्यापकता बढ़ती है, उसका विकास होता है। यानी विद्या का आध्यात्मिक पहलू भी सहज रूप से विकसित होना है। सारे विश्व का अधिष्ठान भूत चराचर-व्यापी एक, (९) सत्य है इस हमारे धर्म की मान्यता के हम उपासक हैं ही। और हम योग्य निर्णय ले सकें एतदर्थ अपने मन को संतुलित रखने की दृष्टि से, (१०) अक्रोध-क्रोधरहित रहें यह संस्कार भी हम पर नित्य किया जाता है। अर्थात् मनुप्रणीत दश लक्षण धर्म का विकास अपनी सामूहिक उपासना द्वारा—शाखा के द्वारा—हम पर शनैः-शनैः होता हुआ हम अनुभव करते हैं। पुनः निष्काम एवं अनासक्त भाव से अहंकाररहित होकर सर्वकर्मफलत्यागपूर्वक किए गए अपने कर्म द्वारा ईश्वर के सगुण अंश में स्थिति इस हिंदू राष्ट्र की हम पूजा करते हैं। यानी अपनी सामूहिक उपासना द्वारा शरीर, बुद्धि एवं मन का विकास कर अंतःकरण को शुद्ध एवं संस्कारित करते हैं। इस प्रकार यह दश लक्षण धर्म अपने जीवन में उतारने का हमारा प्रयत्न है।

: १५ :

उपसंहार

व्यावहारिक दृष्टिकोण की आवश्यकता— व्यक्ति, परिवार, राष्ट्र एवं समस्त मानव जाति को विचार एवं आचार में स्वाभाविक रूप से उन्नत करते हुए उनका धारण करने की दृष्टि से अपने धर्म की दी हुई यह व्यवस्था यद्यपि एक अमोघ साधन है तथापि व्यवहार करते समय वास्तविकता की भूमिका की और दुर्लक्ष करने से काम नहीं चलेगा। जिस पर संस्कार करना और जो संस्कार करता है उन दोनों में जीवन शक्ति हो, तब ही यह व्यवस्था सफल हो सकती है। अपने पूर्व प्रतिपादित सिद्धांत के अनुसार केवल व्यवस्था अथवा केवल जीवन शक्ति अपने आप में अपूर्ण हैं। अर्थात् व्यवस्था एवं जीवन शक्ति दोनों परस्पर-पूरक हैं। उस ओर दुर्लक्ष कर काम नहीं चलेगा। सारे विश्व में सामंजस्य प्रस्थापित करने के लिए हमें अपने राष्ट्र की जीवन शक्ति सर्वप्रथम बलवती करनी होगी, यानी अपनी आत्मिक एवं भौतिक उन्नति करनी होगी, सारे समाज को सुसंगठित एवं सामर्थ्य सम्पन्न करना होगा। अर्थात् सारे समाज के व्यक्ति व्यक्ति को इस तत्त्वज्ञान का स्मरण कराते हुए कि 'मैं इस राष्ट्र का एक जिम्मेवार घटक हूं, उसका उत्थान करना मेरा कर्त्तव्य है' इस सत्य को उसे अनुभव कराकर उसे कर्त्तव्योन्मुख करना होगा। संस्कृत में एक सुभाषित है कि—

'चलत्येकेन पादेन्
तिष्ठत्यनेन बुद्धिमान्।'

अर्थात् 'बुद्धिमान् मनुष्य एक पैर से चलता है और दूसरे के सहारे खड़ा होता है।' चलते समय एक पैर आगे रखने के लिए उठाया तो दूसरा धरती पर रखना ही होगा अन्यथा हम गिर पड़ेंगे।

इस संबंध में एक ज्योतिषी की एक कथा है। ये महाशय अपने घर में ग्रहों की गति का विचार कर रहे थे। गणित करते-करते उन्होंने देखा कि अमुक तिथि को शनि और मंगल की युति मध्य रात्रि में मध्य आकाश में होने वाली है। यह युति बहुत अशुभ मानी जाती है। उस तिथि को मध्य रात्रि में उस युति को देखने के लिए ये महाशय घर से बाहर आए। प्रांगण में एक वृक्ष होने के कारण स्पष्ट

रूप से युति देखने में बाधा हो रही थी। इसलिए ऊपर देखते-देखते वे पेड़ से आगे बढ़े। सारी उत्सुकता शनि-मंगल की युति देखने में केन्द्रित थी। वास्तविकता की धरती की ओर ध्यान नहीं रहा। सामने कुआं था। उसमें गिर पड़े। संभवतः यह देखना भूल गए कि वह युति उन्हीं के लिए अशुभ थी। अतः सारे संसार में सामंजस्य निर्माण करने का विचार लेकर हम अवश्य प्रयास करें, तथापि वास्तविकता की धरती की ओर हमें ध्यान देना ही होगा। पहले अपने समाज में इन धर्मनिर्दिष्ट सिद्धांतों के आधार पर व्यक्ति व्यक्ति का आत्मिक एवं भौतिक विकास कर उनमें सामंजस्य निर्माण करते हुए राष्ट्र की जीवन शक्ति बलवती करनी होगी; अन्यथा सारा कार्य चौपट हो जाएगा। सारे संसार को रास्ता बताने के बाद भी उसे तय करने की शक्ति अपने में ही न हो, तो यह सर्वथा अनुचित होगा, हास्यास्पद होगा।

इसी सत्य को और अधिक विशद कर आत्मसात् करने के लिए हमने प्रारंभ में जिस एक उदाहरण का विचार किया था उसी को दोहराकर तर्कसंगत वास्तविकता से वह कैसे संबद्ध है इसका हम विचार करेंगे। हमने प्रारंभ में यह समझ लेने का प्रयास किया था कि समस्त प्राणी एवं वनस्पतियां परस्परपूरक हैं। परंतु कोई मनुष्य यदि अत्यधिक अशक्त हो, रुग्ण हो, आसन्नमरण हो तो वनस्पतियों द्वारा विसृष्ट प्राण वायु वह आत्मसात् नहीं कर सकता। इतना ही नहीं तो कृत्रिम रूप से उसे दी हुई प्राण वायु भी उसके पुनरुज्जीवन के लिए बेकार सिद्ध होती है। अतः सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि दूसरों के लिए पूरक होने की तथा अन्यतः प्राप्त सामग्री को अथवा विचारों को आत्मसात् कर अपना जीवन अपनी विशेषताओं के साथ समृद्ध करने की जीवन शक्ति व्यक्ति के अथवा राष्ट्र के पास हो। अन्यथा उस सामग्री को ग्रहण करना कठिन होगा, ग्रहण की तो अपचन होकर हमारा स्वास्थ्य खराब होगा, अथवा अपनी विशेषताओं को अपनी राष्ट्रीय अस्मिता का त्याग करना होगा। ऐसी स्थिति में हम भले ही और कुछ हो जाएं, हम, हम नहीं रहेंगे। अतः अपने राष्ट्र की जीवन शक्ति बलवती करना अपना सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।

सिद्धांतत्रय क्षमता के जनक—उस दृष्टि से हम जिस क्षेत्र में चाहें, उस क्षेत्र में कार्य कर सकते हैं। उसमें कोई आपत्ति नहीं। आखिर साधना की उपासना की विविधता अपने धर्म की शत-प्रतिशत मान्य है। परन्तु अपना कार्य-क्षेत्र तय कर कार्य करते समय यह स्मरण में रखना आवश्यक है कि यह जीवनशक्ति अथवा क्षमता उत्पन्न करने का एकमेव आधार यह है कि सर्वत्र भेद में अभेद देखकर, प्रत्येक की पात्रता के अनुसार उसे उपदेश दिया जाए जिससे सब अपना विकास कर सकें और परस्परपूरक होने की दृष्टि से परस्परानुकूल हो सकें। उस दृष्टि से स्वयं के एवं समाज के व्यक्ति व्यक्ति के जीवन में मनुप्रणीत दस

लक्षण धर्म का विकास करते हुए निष्काम एवं अनासक्त भाव से तथा अहंकार-रहित होकर स्वयं को एवं समाज के व्यक्ति व्यक्ति को कर्म करने के लिए प्रेरित करना और सारे राष्ट्र को संगठन के सूत्र में गूंथना आवश्यक है। धर्माचरण करने से सिद्धि प्राप्त कर व्यक्ति किस सीमा तक शक्ति अर्जित कर सकता है यह तो अधिकारी पुरुष ही जाने, तथापि उनकी यह मान्यता है कि इस शक्ति का उपयोग कर चमत्कार करने से व्यक्ति का आत्मिक अधःपतन ही होता है। जो भी हो पारस्परिक सामंजस्य के माध्यम से अमोघ सामर्थ्य निर्माण करने का चमत्कार अपने धर्म के इन सिद्धान्तों में निहित है यह एक संदेहातीत सत्य है इसे ठीक समझ कर लोक संग्रह का कार्य करना होगा।

तब और तब ही एक ओर जहां व्यक्ति का स्वस्थ विकास होगा वहां दूसरी ओर राष्ट्र का भी स्वास्थ्य सुधरेगा। तब और तब ही एक ओर जहां अपने धर्म की रक्षा होगी वहां दूसरी ओर भिन्न मतावलंबियों को आत्मसात् कर राष्ट्र को वैभव के अत्युच्च शिखर पर पहुंचाने के लिए हम सामर्थ्य संपन्न होंगे। तब और तब ही एक ओर जहां अपने ऋषियों द्वारा दृष्ट 'कृण्वंतो विश्वमार्यम्' के मंत्र से अनुप्राणित होकर हम सारे संसार का मार्गदर्शन करने के लिए अपना गुरु का स्थान पुनः प्राप्त करेंगे, वहां दूसरी ओर परस्परपूरकता का अनुभव कर परस्परानुकूल होने के लिए हम सारे संसार को प्रवृत्त कर सकेंगे। तब और तब ही एक ओर जहां—

'सर्वेऽपि सुखिनः सतु,
सर्वे संतु निरामयाः।'

अर्थात् 'सब सुखी होवें, सब नीरोगी होवें' यह ऐहिक समृद्धि की कल्पना साकार होगी वहां दूसरी ओर—

'सर्वे भद्राणि पश्यंतु
मा कश्चिददुःखभाग्भवेत्॥'

अर्थात् 'सब आत्मिक उन्नति का मार्ग देखें (और) कोई भी त्रिविध ताप (आध्यात्मिक आधिदैविक एवं आधिभौतिक) से पीड़ित न हो, इस अपने पारमार्थिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए हम सारे संसार को प्रेरणा दे सकेंगे।

●